श्री जवाहर प्रेस, १६१।१, हरिसन रोड, कलकत्ता द्वारा मुद्रित और सग्रहीत कवियो की ओर से प्रतीक प्रकाशन केन्द्र पोस्ट बक्स ६२, दिल्ली द्वारा प्रकाशित ।

मूल्य २॥)

तार सप्तक

गजानन माधव मुक्तिबोध

नेमिचन्द्र

भारतभूषण अग्रवाल

प्रभाकर माचवे

गिरिजाकुमार माथुर

रामविलास शर्मा

'अज्ञेय'

दिल्ली

संग्रहीत कवियों की

अन्य प्रकाशित पुस्तकें

भारतभूषण अग्रवाल

छवि के बन्धन (कविता)
जागते रहो ! (")
पलायन (नाटक)

गिरिजाकुमार माथुर :

मन्दार (कविता)

रामविलास शर्मा :

प्रेमचन्द (आलोचना)
भारतेन्दु-युग (")

'अज्ञेय'

भग्नदूत (कविता)
चिन्ता (")
विपथगा (कहानी)
शेखर (उपन्यास)

विवृत्ति और पुरावृत्ति

'तार सप्तक' मे सात युवक कवियो (अथवा कवि-युवकों) की रचनाएँ हैं। ये रचनाएँ कैसे एक जगह सग्रहीत हुई, इसका एक इतिहास है। कविता या सग्रह के विषय मे कुछ कहने से पहले उस इतिहास के विषय मे जान लेना उपयोगी होगा।

दो वर्ष हुए, जब दिल्ली मे 'अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन' की आयोजना की गई थी। उस समय कुछ उत्साही बन्धुओं ने विचार किया कि छोटे-छोटे फुटकल सग्रह छापने की बजाय एक सयुक्त सग्रह छापा जाय, क्योंकि छोटे-छोटे सग्रहो की पहले तो छपाई एक समस्या होती है, फिर छप कर भी वे सागर मे एक बूँद-से खो जाते हैं। इन पक्तियों का लेखक 'योजना-विश्वासी' के नाम से पहले ही बदनाम था, अतः यह नयी योजना तत्काल उसके पास पहुँची, और उसने अपने नाम (बदनाम होंगे तो क्या नाम न होगा!) के अनुसार उसे स्वीकार कर लिया।

आरम्भ में योजना का क्या रूप था, और किन किन कवियों की बात उस समय सोची गई थी, यह अब प्रसग की बात नही रही। किन्तु यह सिद्धान्त रूप से मान लिया गया था कि योजना का मूल आधार सहयोग होगा, अर्थात् उसमे भाग लेने वाला प्रत्येक कवि पुस्तक का साझी होगा। चन्दा करके इतना धन उगाहा जायगा कि कागज का मूल्य चुकाया जा सके, छपाई के लिए किसी प्रेस का सहयोग माँगा जायगा जो बिक्री की प्रतीक्षा करे या चुकाई मे छपी हुई प्रतियाँ ले ले। दूसरा मूल सिद्धान्त यह था कि सग्रहीत कवि सभी ऐसे होंगे जो कविता को प्रयोग का विषय मानते हैं—जो यह दावा नही करते कि काव्य का सत्य उन्होंने पा लिया है, केवल अन्वेषी ही अपने को मानते है।

इस आधार पर सग्रह को व्यावहारिक रूप देने का दायित्व मेरे सिर पर डाला गया।

'तार सप्तक' का वास्तविक इतिहास यहीं से आरम्भ होता है, किन्तु जब कह चुका हूँ कि इसकी बुनियाद सहयोग पर खड़ी हुई तब उसकी कमी की शिकायत करना उचित नहीं होगा। वह हमलोगों की आपस की बात है—पाठक के लिए सहयोग का इतना प्रमाण काफी है कि पुस्तक छप कर उसके सामने है!

अनेक परिवर्तनो के बाद जिन सात कवियों की रचनाएँ देने का निश्चय हुआ, उनसे हस्त-लिपियाँ प्राप्त करते-करते साल भर बीत गया, फिर पुस्तक के प्रेस मे दिए जाने पर प्रेस में गड़बड़ हुई और मुद्रक महोदय कागज भी हजम कर गए। साथ ही आधी पाण्डुलिपि रेलगाड़ी मे खो गई, और सकोचवश इसकी सूचना भी किसी को नही दी जा सकी।

कुछ महीनो बाद जब कागज खरीदने के साधन फिर जुटने की आशा हुई तब फिर हस्त लिपियो का सग्रह करने के प्रयत्न आरम्भ हुए, और छ महीनों की दौड़-धूप के बाद पुस्तक फिर प्रेस मे गई। अब छप कर वह पाठक के सामने आ रही है। इसकी बिक्री से जो आमदनी होगी, वह पुन इसी प्रकार के किसी प्रकाशन में लगाई जायगी, यही सहयोग-योजना का उद्देश्य था—वह प्रकाशन चाहे काव्य हो, चाहे, और कुछ। पुस्तक का दाम भी इतना रखा गया है कि बिक्री से लगभग उतनी ही आय हो जितनी कि पूँजी उसमें लगी है, ताकि दूसरे ग्रन्थ की व्यवस्था हो सके।

२

यह तो हुआ प्रकाशन का इतिहास। अब कुछ उसके अन्तरग के विषय में भी कहूँ।

'तार-सप्तक' मे सात कवि सग्रहीत है। सातो एक-दूसरे के परिचित हैं—बिना इसके इस ढग का सहयोग कैसे होता? किन्तु इससे यह परिणाम न निकाला जाय कि वे कविता के किसी एक स्कूल के कवि हैं, या कि साहित्य-जगत् के किसी गुट्ट अथवा दल के सदस्य या समर्थक है। बल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण ही यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मजिल पर पहुँचे हुए नहीं हे, अभी राही हैं—राही नहीं, राहो के अन्वेषी। उनमे मतैक्य नही है, सभी महत्वपूर्ण विषयो पर उनकी राय अलग-अलग

है—जीवन के विषय में, समाज और धर्म और राजनीति के विषय में, काव्य-वस्तु और शैली के, छन्द और तुक के, कवि के दायित्वों के—प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है। यहाँ तक कि हमारे जगत् के ऐसे सर्वमान्य और स्वयसिद्ध मौलिक सत्यों को भी वे समान रूप से स्वीकार नही करते जैसे लोकतन्त्र की आवश्यकता, उद्योगो का सामाजीकरण, यांत्रिक युद्ध की उपयोगिता, वनस्पति घी की बुराई, अथवा काननवाला और सहगल के गानों की उत्कृष्टता, इत्यादि। वे सब परस्पर एक-दूसरे पर, एक-दूसरे की रुचियों-कृतियो और आशाओं-विश्वासों पर, एक-दूसरे की जीवन-परिपाटी पर, और यहाँ तक कि एक-दूसरे के मित्रों और कुत्तों पर भी हँसते हैं। 'तार सप्तक' का यह सस्करण बहुत बड़ा नहीं है, अत. आशा की जा सकती है कि उसके पाठक सभी न्यूनाधिक मात्रा मे एकाधिक कवि से परिचित होंगे, तब वे जानेंगे कि तार सप्तक किसी गुट्ट का प्रकाशन नही है क्योंकि सग्रहीत सात कवियो के साढ़े-सात अलग-अलग गुट्ट हैं उनके साढ़े-सात व्यक्तित्व—साढे-सात यो कि एक को अपने कवि-व्यक्तित्व के ऊपर सकलनकर्त्ता का आधा छद्म-व्यक्तित्व और लादना पड़ा है।

ऐसा होते हुए भी वे एकत्र सग्रहीत हैं, इसका कारण पहले बताया जा चुका है। काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हे समानता के सूत्र मे बाँधता है। इसका यह अभिप्राय नही है कि प्रस्तुत सग्रह की सब रचनाएँ प्रयोगशीलता के नमूने हैं, या कि इन कवियों की रचनाएँ रूढि से अछूती हैं, या कि केवल यही कवि प्रयोगशील हैं और बाकी सब घास छीलने वाले। वैसा दावा यहा कदापि नहीं है, दावा केवल इतना है कि ये सातों अन्वेषी हैं। ठीक यही सप्तक क्यों एकत्र हुआ इसका उत्तर यह है कि परिचित और सहकार-योजना ने इसे ही सम्भव बनाया। इस नाते तीन-चार और नाम भी सामने आए थे, पर उनमें वह प्रयोगशीलता नहीं थी जिसे कसौटी मान लिया गया था, यद्यपि सग्रह पर उनका भी नाम होने से उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती ही, घटती नहीं। सग्रहीत कवियो मे से ऐसा कोई भी नहीं है जिसकी कविता केवल उसके नाम के सहारे खड़ी हो सके। सभी इसके लिये तैयार हैं कि अभी कसौटी हो, क्योंकि सभी अभी उस परमतत्व की शोध में ही लगे हैं जिसे पालने पर कसौटी की ज़रूरत नही रहती, बल्कि जो कसौटी की ही कसौटी हो जाता है।

३.

सग्रह के बहिरंग के बारे मे भी कुछ कहना आवश्यक है। इधर कविता प्राय. चारो ओर बड़े-बड़े हाशिये देकर सुन्दर सजावट के साथ छपती रही है। अगर कविता को शब्दों की मीनाकारी ही मान लिया जाय तब यह सगत भी है। 'तार सप्तक' की कविता वैसी जड़ाऊ कविता नही है; वह वैसी हो भी नही सकती। ज़माना था जब तलवारें और तोपे भी जड़ाऊ होती थीं, पर अब गहने भी धातु को साँचो में ढाल कर बनाए जाते हैं!—और हीरे भी तप्त धातु की सिकुड़न के दबाव से बँधे हुए कणो से! 'तार सप्तक' मे रूपसज्जा को गौण मान कर अधिक से अधिक सामग्री देने का उद्योग किया गया है। इसे पाठक के प्रति ही नहीं, लेखक के प्रति भी कर्त्तव्य समझा गया है, क्योकि जो भी कोई जनता के सामने आता है वह अन्ततः दावेदार है, और जब दावेदार है तो अपने पक्ष के लिये उसे पर्याप्त सामग्री लेकर आना चाहिये। योजना थी कि प्रत्येक कवि साधारण छापे का एक फार्म दे (अथवा ले) गा, इस बड़े आकार मे जितनी सामग्री प्रत्येक की है, वह एक फार्म से कम नहीं है। इन बातो को ध्यान मे रखते हुए मानना पड़ेगा कि 'तार सप्तक' मे उतने ही दामों की तीन पुस्तकों की सामग्री सस्ते और सुलभ रूप मे दी जा रही है।

और यदि पाठक सोचे कि ऐसा प्रचार प्रकाशकोचित है, सम्पादकोचित नहीं, तो उसका उत्तर स्पष्ट है कि इस सहोद्योगी योजना मे 'तार सप्तक' के लेखक ही उसके प्रकाशक और सम्पादक भी हैं, और अपने-अपने जीवनीकार भी और प्रवक्ता भी। और (यह धृष्टता नहीं है, केवल अपने कर्म का फल भोगने की तत्परता है।) वे सभी इसके लिये भी तैयार हैं कि 'तार सप्तक' के पाठक वे ही रह जायँ! क्योंकि जो प्रयोग करता है, उसे अन्वेषित विषय का मोह नहीं होना चाहिए।

कवियों का अनुक्रम किसी हद तक आकस्मिक है; जहाँ वह दृष्टिगत है वहाँ उसका उद्देश्य यही रहा

है कि कुल सामग्री को सर्वाधिक प्रभावोत्पादक ढग से उपस्थित किया जाय। संकलनकर्त्ता अन्त मे आता है क्योंकि वह संकलनकर्त्ता है। अनुक्रम मात्र से कवियों के पद-गौरव के बारे में कोई परिणाम निकालना, या उस विषय मे सकलनकर्त्ता की सम्मति की खोज लगाना, मूर्खता होगी।

—'अज्ञेय'

सूची

गजानन मुक्तिबोध

[**मुक्तिबोध, गजानन माधव ;** जन्म नवम्बर १९१७ में ग्वालियर के एक कसबे में हुआ, जहाँ सौ साल पहले कवि के पूर्वज आ बसे थे। पिताके पुलिस-सब-इन्स्पेक्टर होने के कारण और बार-बार बदली होने के कारण मुक्तिबोध की पढाई का सिलसिला टूटता-जुड़ता रहा ; फलत. १९३० में उज्जैन में मिडिल परीक्षा में असफलता मिली जिसे कवि अपने जीवनकी 'पहली महत्वपूर्ण घटना' मानता है। उसके बाद पढाई का सिलसिला ठीक चला , और साथ ही जीवन के प्रति नयी सवेदना और जागरूकता बढने लगी। सन् १९३५ (माधव कालेज, उज्जैन) में साहित्य-लेखन आरम्भ हुआ। सन् १९३८ में बी० ए० पास किया ; १९३९ में विवाह , उसके बाद 'निम्न-मध्यवर्गीय निष्क्रिय मास्टरी, जो अब तक है'।

"मालवे के एक औद्योगिक केन्द्रमें जिसमें बड़े शहरों के गुणों को छोड़कर उसकी सब विशेषताएँ हैं, यह बन्दा रोज जिन्दा रहता है। नियमानुकूल बारह बजे दोपहर स्कूल जाता है ; लौटती बार अपने पैरों से अपनी सिगरेट पर ज्यादा भरोसा रखता हुआ घर की ओर चल पड़ता है। साँझ सात बजे पानवाले की दूकान पर नित्य मिलता है। उज्जैन के फ्रीगज मे कहीं भी इस व्यक्तिको मटरगश्ती करते हुए आप पा सकते हैं"।]

—oo§o§oo—

वक्तव्य

मालवे के विस्तीर्ण मनोहर मैदानों में से घूमती हुई क्षिप्रा की रक्त-भव्य साँझें और विविध-रूप वृक्षों की छायाएँ मेरे किशोर कवि की आद्य सौन्दर्य-प्रेरणाएँ थी। उज्जैन नगर के बाहर का यह विस्तीर्ण निसर्ग-लोक उस व्यक्ति के लिए जिसकी मनोरचना में रंगीन, आवेग ही प्राथमिक है, अत्यन्त आत्मीय था।

उसके बाद इन्दौर मे प्रथमत ही मुझे अनुभव हुआ कि यह सौन्दर्य ही मेरे काव्य का विषय हो सकता है। इसके पहिले उज्जैन में स्व० रमाशकर शुक्ल के स्कूल की कविताएँ—जो माखनलाल स्कूल की निकली हुई शाखा थी—मुझे प्रभावित करती रही, जिनकी विशेषता थी बात को सीधा न रख कर उसे केवल सूचित करना। तर्क यह था कि उससे वह अधिक प्रबल होकर आती है। परिणाम यह था कि अभि-व्यजना उलझी हुई प्रतीत होती थी। काव्य का विषय भी मूलतः विरह-जन्य करुणा और जीवन-दर्शन ही था। मित्र कहते हैं कि उनका प्रभाव मुझ पर से अब तक नहीं गया है। इन्दौर में मित्रों के सहयोग और सहायता से मैं अपने आन्तरिक क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ और पुरानी उलझन-भरी अभिव्यक्ति और अमूर्त करुणा छोड़ कर नवीन सौन्दर्य-क्षेत्र के प्रति जागरूक हुआ। यह मेरी प्रथम आत्म-चेतना थी।

उन दिनों भी एक मानसिक सघर्ष था। एक ओर हिन्दी का यह नवीन सौन्दर्य-काव्य था, तो दूसरी और मेरे बाल-मन पर मराठी साहित्य के अधिक मानवतामय उपन्यास-लोक का भी सुकुमार, परन्तु तीव्र, प्रभाव था। टालस्टाय के मानवीय समस्या-सम्बन्धी उपन्यास, या महादेवी वर्मा ? समय का प्रभाव कहिए या वय की माँग, या दोनों, मैंने हिन्दी के सौन्दर्य-लोक को ही अपना क्षेत्र चुना , और मन की दूसरी माँग वैसे ही पीछे रह गई जैसे अपने आत्मीय राह में पीछे रह कर भी साथ चले चलते हैं।

मेरे बाल-मन की पहली भूख सौन्दर्य, और दूसरी विश्व-मानव का सुख-दुःख—इन दोनों का सघर्ष मेरे साहित्यिक जीवन की पहली उलझन थी। इसका स्पष्ट वैज्ञानिक समाधान मुझे किसी से न मिला। परिणाम था कि इन अनेक आन्तरिक द्वन्द्वों के कारण एक ही काव्य-विषय नहीं रह सका। जीवन के एक ही बाजू को लेकर मैं कोई सर्वाश्लेषी दर्शन की मीनार खड़ी न कर सका।

साथ ही जिज्ञासा के विस्तार के कारण कथा की ओर मेरी प्रवृत्ति बढ गई। इसका द्वन्द्व मन में पहले ही से था। कहानी-लेखन आरम्भ करते ही मुझे अनुभव हुआ कि कथा-तत्व मेरे उतना ही समीप है जितना काव्य। परन्तु कहानियाँ मैं बहुत ही थोड़ी लिखता था, अब भी कम लिखता हूँ। परिणामत काव्य को मैं उतना ही समीप रखने लगा जितना कि स्पन्दन ; इसीलिए काव्य को व्यापक करने की, अपनी जीवन-सीमा से उसकी सीमा को मिला देने की चाह दुर्निवार होने लगी। और मेरे काव्य का प्रवाह बदला।

दूसरी ओर, दार्शनिक प्रवृत्ति—जीवन और जगत के द्वन्द्व—जीवन के आन्तरिक द्वन्द्व—इन सबको

सुलझाने की, और एक अनुभव-सिद्ध व्यवस्थित तत्व-प्रणाली अथवा जीवन-दर्शन आत्मसात् कर लेने की दुर्दम प्यास मन में हमेशा रहा करती। आगे चल कर मेरी काव्यकी गतिको निश्चित करने वाला सशक्त कारण यही प्रवृत्ति थी। सन् १९३५ से काव्य आरम्भ किया था, सन् १९३६ से १९३८ तक काव्य के पीछे कहानी चलती रही। १९३८ से १९४२ तक के पाँच साल मानसिक सघर्ष और बर्गसोंनीय व्यक्तिवाद के वर्ष थे। आन्तरिक विनष्ट शान्ति के और शारीरिक ध्वसके इस समय मे मेरा व्यक्तिवाद कवच की भाँति काम करता था। बर्गसों की स्वतन्त्र क्रियमाण 'जीवन-शक्ति' (elan vital) के प्रति मेरी आस्था बढ गई थी। परिणामतः काव्य और कहानी नये रूप प्राप्त करते हुए भी अपने ही आसपास घूमते थे, उनकी गति ऊर्ध्वमुखी न थी।

सन् १९४२ के प्रथम और अन्तिम चरण में मैं एक ऐसी विरोधी शक्ति के सम्मुख आया, जिसकी प्रतिकूल आलोचना से मुझे बहुत कुछ सीखना था। शुजालपुर की अर्द्ध-नागरिक रम्य एकस्वरता के वातावरण में मेरा वातावरण भी—जो मेरी आन्तरिक चीज है—पनपता था। यहाँ लगभग एक साल मे मैंने पाँच साल का पुराना जड़त्व निकालने की सफल-असफल कोशिश की। इस उद्योग के लिए प्रेरणा, विवेक और शान्ति मैंने एक ऐसी जगह से पाई, जिसे पहले मैं विरोधी शक्ति मानता था।

क्रमश मेरा झुकाव मार्क्सवाद की ओर हुआ। अधिक वैज्ञानिक, अधिक मूर्त और, अधिक तेजस्वी दृष्टिकोण मुझे प्राप्त हुआ।

शुजालपुर मे पहले पहल मैंने कथातत्व के सबन्ध मे आत्म-विश्वास पाया। दूसरे अपने काव्य की अस्पष्टता पर मेरी दृष्टि गई, तीसरे नये विकास-पथ की तलाश हुई।

यहाँ यह स्वीकार करने मे मुझे सकोच नहीं कि मेरी हर विकास-स्थितिमें मुझे घोर असन्तोष रहा और है। मानसिक द्वन्द्व मेरे व्यक्तित्व में बद्धमूल है। यह मैं निश्चता से अनुभव करता आ रहा हूँ कि जिस भी क्षेत्र मे मैं हूँ वह स्वय अपूर्ण है, और उसका ठीक ठीक प्रकटीकरण भी नहीं हो रहा है। फलत गुप्त अशान्ति मन के अन्दर घर किए रहती है।

लेखन के विषय में

मैं कलाकार की 'स्थानान्तरगामी प्रवृत्ति' (migration instinct) पर बहुत जोर देता हूँ। आज के वैविध्यमय, उलझन से भरे, रग-विरगे जीवन को यदि देखना है, तो अपने वैयक्तिक क्षेत्र से एक बार तो उड़कर बाहर जाना ही होगा। बिना उसके, इस विशाल जीवन-समुद्र की परिसीमा, उसके तट-प्रदेशों के भूखण्ड, आँखों से ओट ही रह जाएँगे। कला का केन्द्र व्यक्ति है, पर उसी केन्द्र को अब दिशा-व्यापी करने की आवश्यकता है। फिर युग-सन्धि-काल मे कार्यकर्ता उत्पन्न होते हैं, कलाकार नहीं, इस धारणा को वास्तविकता के द्वारा गलत साबित करना ही पड़ेगा।

मेरी कविताओं के प्रान्त-परिवर्तन का कारण है यही आन्तरिक जिज्ञासा। परन्तु इस जिज्ञासु-वृत्ति का वास्तव (objective) रूप अभी तक कला मे नहीं पा सका हूँ। अनुभव कर रहा हूँ कि वह उपन्यास द्वारा ही प्राप्त हो सकेगा। वैसे काव्य मे जीवन के चित्र की—यथा वैज्ञानिक 'टाइप' की—उद्भावना की, अथवा तीव्र विचार की, अथवा शुद्ध शब्द-चित्रात्मक कविता हो सकती है, इन्हीं के प्रयोग मैं करना चाहता हूँ। पुरानी परम्परा बिलकुल छूटती नहीं है, पर वह परम्परा है मेरी ही, और उसका प्रसार अवश्य होना चाहिए।

जीवन के इस वैविध्यमय विकास-स्रोत को देखने के लिए इन भिन्न-भिन्न काव्य-रूपोंको, यहाँ तक कि नाट्य-तत्व को, कविता मे स्थान देने की आवश्यकता है। मैं चाहता हूँ कि इसी दिशा में मेरे प्रयोग हों।

मेरी ये कविताये अपना पथ ढूँढनेवाले बेचैन मन की ही अभिव्यक्ति हैं। उनका सत्य और मूल्य उसी जीवन-स्थिति मे छिपा है।

—ग० मा० मुक्तिबोध

१ आत्मा के मित्र मेरे

वह मित्र का मुख
ज्यों अतल आत्मा हमारी बन गई साक्षात् निज सुख।
वह मधुरतम हास
जैसे आत्म-परिचय सामने ही आ रहा है मूर्त होकर।
जो सदा ही मम हृदय-अन्तर्गत छुपे थे
वे सभी आलोक खुलते जिस सुमुख पर!
वह हमारा मित्र है,
आत्मीयता के केन्द्रपर एकत्र सौरभ। वह बना,
मेरे हृदय का चित्र है!
जो हृदय-सागर युगों से लहरता,
आनन्द में व्याकुल चला आता
कि नीला गोल क्षण-क्षण गूँजता है,
उस जलधि की श्याम लहरोंपर जुड़ा आता
सघनतम श्वेत, स्वर्गिक फेन, चचल फेन!
जिसको नित लगाने निज मुखों पर
स्वप्न की मृदु मूर्तियों-सी
अप्सराएँ साँझ-प्रातः
मृदु हवा की लहर पर से सिन्धु पर रख अरुण तलुए
उतर आतीं, कान्तिमय नव हास लेकर।
उस जलधि की युग-युगों की अमल लहरों पर
जुड़ा जो फेन,
अन्तर के अतल हिल्लोल का जो बाह्य है सौन्दर्य—
कोमल फेन।
जिसके आत्म-मन्दिर में समर्पित,
दुःख-सुखों की साँझ-प्रात' जो अकेला
याद आता मुख हमे नित!

काल की, परिवर्तनों की तीव्र धारा मे बहा जाता
मधुरतम साथ जिसका,
प्राण की उत्थान-गति की तीव्रता में
वह रहा उच्छ्वास जिसका,
जो हमारी प्यास में नित पास है—
व्यक्तित्व का सौरभ लिए, व्याकुल निशा-सा।
निकटता के निज क्षणों मे
जोकि उर की बालिका का मौनतम विश्वास है।
जो झेलता मेरे हृदय को निज हृदय पर
आत्म-उन्मुक्तीकरण की खुली वेला में कि जब
दो आत्माएँ
बालकों सी नम्र होकर खड़ी रहती
दिव्य नयनोंमे सहज-तम-बोध नीलालोक लेकर!
वह परस्पर की मृदुल पहचान, जैसे पूर्ण
चन्दा खोजता हो
उमड़ती निःसीम निस्तल
कूलहीना श्यामला जल-राशि में प्रतिबिम्ब
अपना, हास अपना,

वह परस्पर की मृदुल पहचान जैसे
अतल-गर्भा भव्य धरती हृदय के निज कूल पर
मृदु स्पर्श कर पहिचान करती, गूढतम उस विशद
दीर्घच्छाय श्यामल-काय बरगद वृक्ष की,
जिसके तले आश्रित अनेकों प्राण,
जिसके मूल पृथ्वी के हृदय में टहल आए, उलझ आए।

मित्र मेरे,
आत्मा के एक!
एकाकीपने के अन्यतम प्रतिरूप।
जिससे अधिक एकाकी हृदय।
कमज़ोरियों के एकमेव दुलार
भिन्नता में विकस ले, वह तुम अभिन्न विचार
बुद्धि की मेरी शलाका के अरुणतम नग्न जलते तेज
कर्म के चिर-वेग मे उर-वेग के उन्मेष।

पितृ-मन की स्नेह-सीमाका जहाँ है अन्त,
छलछल मातृ-उर के क्षेम-दर्शन के परे जो लोक,
पत्नी के समर्पण-देश की गोधूलि-सन्ध्या के क्षितिज
के पार,

जो विस्तृत बिछा है प्रान्त
तन्मय-तिमिर-छाया है जहाँ हिलडोल से भी दूर,
है केवल अकेला व्योम ऊपर श्याम,
नीचे तिमिरशायी अचल धरती भी अकेली एक,
तरु के तले भी केवल अकेला मौन,
जिसकी दीर्घ शाखाएँ बिछीं निस्सग

जैसे लटकती है एक स्मृति-पहचान, मन के
तिमिर-कोनेमे स्वजित,
पत्ते भी खड़े चुपचाप सीने तान—
अपनी व्यक्तिमत्ता के सहारे जो चले हैं प्राण,
उनको कौन देता है
अचल विश्वास का वरदान !
उनको कौन देता है प्रखर आलोक
खुद ही जल
कि जैसे सूर्य !
अपने ही हृदय के रक्त की ऊषा
पथिक के क्षितिज पर बिछ जाय,
जिससे यह अकेला प्रान्त भी नि.सीम परिचय की मधुर
सवेदना से

आत्मवत् हो जाय,
ऐसी जिस मनस्वी की मनीषा,
वह हमारा मित्र है
माता-पिता-पत्नी-सुहृद पीछे रहे हैं छूट
उन सबके अकेले अग्र मे जो चल रहा है
ज्वलत् तारक-सा,
वही तो आत्मा का मित्र है ।
मेरे हृदय का चित्र है ।

२ दूर तारा

तीव्र-गति
अति दूर तारा,
वह हमारा
शून्य के विस्तार नीले में चला है ।

और नीचे लोग
उसको देखते हैं, नापते हैं गति, उदय औ' अस्त का
इतिहास ।
किन्तु इतनी दीर्घ दूरी,
शून्य के उस कुछ-न-होने से बना जो नील का आकाश,
वह एक उत्तर,
दूरबीनों की सतत आलोचनाओ को,
नयन-आवर्त के सीमित निदर्शन या कि दर्शन-यत्न को ।
वे नापने वाले लिखें उसके उदय औ' अस्त की गाथा,
सदा ही ग्रहण का विवरण ।
किन्तु वह तो चला जाता
व्योम का राही,
भले ही दृष्टि के बाहर रहे—उसका विपथ ही
बना जाता ।

और जाने क्यों,
मुझे लगता कि ऐसा ही अकेला नील तारा,
तीव्र-गति,
जो शून्य में निस्सग,
जिसका पथ विराट्—
वह छिपा प्रत्येक उर में,
प्रति हृदय के कल्मषों के बाद,
जैसे बादलों के बाद भी है शून्य नीलाकाश ।
उसमें भागता है एक तारा,
जो कि अपने ही प्रगति-पथ का सहारा,
जो कि अपना ही स्वय बन चला चित्र,
भीति-हीन विराट्-पुत्र ।

इसलिए प्रत्येक मनु के पुत्र पर विश्वास करना चाहता हूँ ।

३ खोल आँखें

जिस देश प्राणों की जलन मे
एक नूतन स्वप्नका सचार हो,
ओ हृदय मेरे, उस ज्वलन की भूमि में बिछ जा स्वय ही ;
औ' तड़प कर उस निराले देशमे तू खोल आँखें ।
देख—जलते स्पन्दनों मे क्या उलझता ही गया है ,
जो नयी चिनगारियाँ
नव स्वप्न का आलोक ले
उत्पन्न होती जा रही है,
उन सबलतम, तीव्र, कोमल देशकी
चिनगारियों मे
जो खिले हैं स्वप्न रक्तिम,
देख ले जी-भर उन्हें तू ।
उस असीम विकल रस को पी स्वय भी
वह महा-व्याकुल अनावृत ज्ञान-लिप्सा
रख रही निजमें अनावृत एक सपना—

सहस्रों स्वर्गीय स्वप्नों से वृहत्तर
स्वप्न का वह व्योम नीला
प्राण-पृथ्वी पर झुका है।
उस महा-व्याकुल अनावृत ज्ञानलिप्सा
के क्षितिज पर
जो खिचा है स्वप्न—
श्रावण-सांझके वितरित घनोंपर
अमित, नीला, जामुनी, अति लाल, सुन्दर
दिवस की बरसात को सूर्यास्त का चुम्बन
कि ऐसा अद्वितीय
मधुरतम
आश्चर्यमय।
वह ज्ञान-लिप्सा-क्षितिज-सपना
रे, वही तुझमें अनेकों स्वप्न देगा।
औ' अनेकों सत्य के शिशु
नव हृदय के गर्भ मे द्रुत
आ चलेंगे।

आत्मा मेरी—
उस ज्वलन की भूमि में तू स्वय बिछ ले
देख, जलते स्पन्दनों में क्या उलझता ही गया है।

४ अशक्त

क्या हमारे भाव शब्दातीत हैं ?
या तुम्हारा रूप भावातीत है ?
हम न गा सकते तुम्हारा गीत हैं
वह हृदय गभीर, नीरव सिक्त है!

यह विशद जीवन कि जो आकाश-सा
याकि निर्झर-सा चपल लघु तीव्र है,
क्या पूर्ण है ? क्या तृप्ति पाता शीघ्र है,
वह ग्रीष्म-सा है या मदिर मधुमास-सा ?

हम लिखें कविता विरह पर, दु ख पर
या मधुर आराधना पर, युद्ध पर;
या रचें विज्ञान जीवन के बने—
प्रश्नमय जो अंग सन्तत क्रुद्ध पर ?

खींच लें हम चित्र जीवन में बहे
रम्य मिश्रित रग-धारा के नवल,
चकित हो ले, उल्लसित हो लें कभी
दु ख ढो ले तत्व-चिन्ता कर सकल।

किन्तु यह सब तो सतह की चीज़ है,
भार बन मेरे हृदय पर छा रही।
याकि बहने सरित के ऊपर तहें
वर्फ की जमती चलो ही जा रहीं।

पांथ है प्यासा, थका-सा धूप में
पीठ पर है ज्ञान की गठरी बड़ी,
झुक रही है पीठ, बढता बोझ है
यह रही बेगार की यात्रा कड़ी।

अर्थ-खोजी प्राण ये उद्दाम हैं,
अर्थ क्या ? यह प्रश्न जीवन का अमर।
क्या तृषा मेरी बुझेगी इस तरह ?
अर्थ क्या ? ललकार मेरी है प्रखर।

जबकि ऐसा ज्ञान मेरे प्राण में
तृप्ति-मधु उत्पन्न करता ही नहीं,
जबकि जीवन में मधुर सम्पन्नता
ताजगी, विश्वास आता ही नहीं,

जबकि शकाकुल तृषित मन खोजता
बाहरी मरु में अमल जल-स्रोत है,
क्यों न विद्रोही बनें ये प्राण जो
सतत अन्वेषी सदा प्रद्योत हैं!

जबकि अन्दर खोखलापन कीट-सा
है सतत घर कर रहा आराम से,
क्यों न जीवन का वृहद् अश्वत्थ यह
डर चले तूफान के ही नाम से!

५ मेरे अन्तर

मेरे अन्तर, मेरे जीवन के सरल यान,
तू जबसे चला, रहा बेघर,
तन गृह में हो, पर मन बाहर,
आलोक-तिमिर, सरिता-पर्वत कर रहा पार!

वह सहज उठा ले चला सुदृढ तपते जीवन का महा ज्वार,
उसके द्रुत-गति प्रति पदक्षेप से झंकृत हो उठ रहा गान,
जो नव्य तेज का भव्य भान।
घर की स्नेहल-कोमल छाया मे रहा महा चचल अधीर।
वे मृदुल थपकियाँ स्नेह-भरी,
वे शशि-मुसकाने शुभकरी,
सबको पाया, सबको झेला पर स्वयं अकेला बढा धीर !
जीवन तम को सगीत-मधुर करता उग-सरि का वन्य नीर,
ऐसा प्रमत्त जिसका शरीर, उन्मत्त प्राण-मन विगत-पीर !!

यह नहीं कि वह था तुग पुरुष
जो स्वय पूर्ण गत-दु.ख-हर्ष
पर ले उसके धन ज्योतिष्कण जो बढा मार्गपर अति अजान।
उसके पथ पर पहरा देते ईसा महान् वे स्नेहवान्।
छाया बनकर फिरते रहते वे शुद्ध बुद्ध सबुद्ध-प्राण !!
यह नहीं कि करता गया पुण्य,
उसका अन्तर था सरल वन्य,
तम में घुसकर चक्कर खाकर वह करता गया अबाध पाप।
अपनी अक्षमता में लिपटी यह मुक्ति होगई स्वय शाप।

पर उसके मन मे बैठा वह जो समझौता कर सका नहीं,
जो हार गया, यद्यपि अपने से लड़ते-लड़ते थका नहीं
उसने ईश्वर-सहार किया, पर निज ईश्वर पर स्नेह किया।
स्फुरणाके लिए स्वय को ही नव स्फूर्ति-स्रोतका ध्येय किया
वह आज पुनः ज्योतिष्कण हित
घन पर अविरत करता प्रहार,
उठते स्फुलिङ्ग
गिरते स्फुलिङ्ग
उन ज्योति-क्षणों मे देख लिया
करता वह सत्य महदाकार !
सन्नद्ध हुआ वह ज्वाल-विद्ध करने को सारा तम-प्रसार,
वह जन है जिसके उच्च-भाल पर
विश्व-भार, औ' अन्तर में
नि सीम प्यार !!

६ मृत्यु और कवि

घनी रात, बादल रिमझिम हैं, दिशा मूक, निस्तब्ध वनान्तर,
व्यापक अधकार मे सिकुड़ी सोई नर की बस्ती, भयकर
है निस्तब्ध गगन, रोती सी सरिता-धार चली घहराती,
जीवन लीला को समाप्त कर मरण-सेज पर है कोई नर।
बहुत सकुचित छोटा घर है, दीपालोकित फिर भी धुँधला
वधू मूर्च्छिता, पिता अर्द्ध-मृत, दुखिता माता स्पन्दन-हीना
घनी रात, बादल रिमझिम हैं, दिशा मूक,कविका मन गीला
"यह सब क्षणिक, क्षणिक जीवन है, मानव-जीवन है
क्षण-भगुर,"

ऐसा मत कह मेरे कवि, इस क्षण सवेदन से हो आतुर
जीवन-चिन्तन में निर्णय पर अकस्मात् मत आ, ओ निर्मल।
इस वीभत्स प्रसग मे रहो तुम अत्यन्त स्वतत्र निराकुल,
भ्रष्ट न होने दो युग-युग की सतत साधना महाराधना,
इस क्षण-भरके दुःख-भारसे, रहो अविचलित,रहो अचचल।
अन्तर्दीपक के प्रकाश में विनत-प्रणत आत्मस्थ रहो तुम,
जीवन के इस गहन अतल के लिए मृत्यु का अर्थ कहो तुम।

क्षण-भगुरता के इस क्षण मे जीवन की गति, जीवन का स्वर,
दो सौ वर्ष आयु यदि होती तो क्या अधिक सुखी होता नर?
इसी अमर धारा के आगे बहने के हित यह सब नश्वर,
सृजनशील जीवन के स्वरमे गाओ मरण-गीत तुम सुन्दर।
तुम कवि हो, ये फैल चले मृदु गीत निबल मानव के घर-घर
ज्योतित हों मुख नव आशासे,जीवनकी गति जीवनका स्वर!

७ नूतन अहं

कर सको घृणा
क्या इतना
रखते हो अखड तुम प्रेम ?
जितनी अखड हो सके घृणा
उतना प्रचड
रखते क्या जीवन का व्रत-नेम ?
प्रेम करोगे सतत ? कि जिससे
उससे उठ ऊपर बह लो
ज्यों जल पृथ्वी के अतरग
में घूम निकल झरता निर्मल वैसे तुम ऊपर बह लो
क्या रखते अन्तर मे तुम इतनी ग्लानि
कि जिससे मरने और मारने को रह लो तुम तत्पर
क्या कभी उदासी गहिर रही
सपनों पर, जीवन पर छायी

जो पहना है एकाकीपन का लौह वस्त्र, आत्मा के तन पर ?
है खत्म हो चुका स्नेह-कोष सब तेरा
जो रखता था मन में कुछ गीलापन
और रिक्त हो चुका सर्व-रोष
जो चिर-विरोध में रखता था आत्मा में गर्मी, सहज भव्यता,
मधुर आत्म-विश्वास।
है सूख चुकी वह ग्लानि
जो आत्मा को बेचैन किए रखती थी अहोरात्र
कि जिससे देह सदा अस्थिर थी, आँखें लाल, भाल पर
तीन उग्र रेखाएं, अरि के उर में तीन शलाकाएँ सुतीक्ष्ण,
किन्तु आज लघु स्वार्थों में घुल, क्रन्दन-विह्वल,
अन्तर्मन यह टार रोड के अन्दर नीचे बहनेवाली गटरों से भी
है अस्वच्छ अधिक,
यह तेरी लघु विजय और लघु हार
तेरी इस दयनीय दशा का लघुतामय ससार
अहभाव् उत्तुग हुआ है तेरे मन में
जैसे घूरे पर उठा है
धृष्ट कुकुरमुत्ता उन्मत्त।

८ विहार

रविका प्रकाश,
शशि का विकास—
पुसत्व-हीन नर का विलास।
ये सूर्य-चन्द्र,
नभ-वक्ष लुब्ध,
वे अमित वासना के शिकार।
वे गगन दीन
वे रसिक स्त्रण,
पुसत्व-हीन वेश्या-विहार।
इनका प्रकाश
जग के विशाल
शव का सफेद परिधान साफ।
है त्यक्त गेह
आत्मा अदेह
उड़ चली गटर से बनी साफ।

[२]

दिन के बुखार
रात्रि की मृत्यु
के बाद हृदय पुंसत्व-हीन,
अन्तर्मनुष्य
रिक्त-सा गेह
दो लालटेन-से नयन दीन ;
निष्प्राण स्तभ
दो खड़े पाँव
लकड़ी का खोखा वक्ष रिक्त ;
मस्तिष्क तेल
की है मशीन
ससार-क्षेत्र है तैल-सिक्त।
दिनके बुखार
रात्रि की मृत्यु
के बाद हृदय दुःख का नर्क,
रात्रि के शून्य
दो देह युक्त—
दो रिक्त प्राण व्यग्य में ग़र्क।

९ पूँजीवादी समाज के प्रति

इतने प्राण, इतने हाथ, इतनी बुद्धि
इतना ज्ञान, सस्कृति और अन्तःशुद्धि
इतना दिव्य, इतना भव्य, इतनी शक्ति
यह सौन्दर्य, वह वैचित्र्य, ईश्वर-भक्ति,
इतना काव्य, इतने शब्द, इतने छन्द—
जितना ढोंग, जितना भोग है निर्बन्ध
इतना गूढ इतना गाढ़, सुन्दर जाल—
केवल एक जलता सत्य देने टाल।
छोड़ो हाय, केवल घृणा औ' दुर्गन्ध
तेरी रेशमी वह शब्द-सस्कृति अन्ध
देती क्रोध मुझको, खूब जलता क्रोध
तेरे रक्त में भी सत्यका अवरोध
तेरे रक्त से भी घृणा आती तीव्र
तुझको देख मितली उमड़ आती-शीघ्र
तेरे हास में भी रोग-कृमि हैं उग्र
तेरा नाश तुझ पर क्रुद्ध, तुझ पर व्यग्र।
मेरी ज्वाल, जनकी ज्वाल हो कर एक

अपनी उष्णता से धो चले अविवेक
तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ
तेरा ध्वस केवल एक तेरा अर्थ।

मेरे सिरपर एक पैर रख
नाप तीन जग तू असीम बन।

१० नाश देवता

घोर धनुर्धर, बाण तुम्हारा
सब प्राणों को पार करेगा,
तेरी प्रत्यचा का कपन
सूनेपन का भार हरेगा।
हिमवत्, जड़, नि स्पन्द हृदय के
अन्धकार मे जीवन-भय है।
तेरे तीक्ष्ण बाण की नोकों
पर जीवन-सचार करेगा।

तेरे क्रुद्ध वचन बाणों की
गति से अन्तर मे उतरेंगे,
तेरे क्षुब्ध हृदय के शोले
उर की पीड़ा मे ठहरेंगे।
कोपित तेरा अधर-सरस्फुरण
उर मे होगा जीवन-वेदन,
रुष्ट दृगों की चमक बनेगी
आत्म-ज्योति की किरण सचेतन।

सभी उरों के अन्धकार मे
एक तड़ित् वेदना उठेगी,
तभी सृजन की बीज-वृद्धि हित
जड़ावरण की मही फटेगी।
शत-शत बाणो से घायल हो
बढा चलेगा जीवन-अकुर।
दृगन की चेतन किरणों के
द्वारा काली अमा हटेगी।

हे रहस्यमय, ध्वस महाप्रभु,
जो जीवन के तेज सनातन,
तेरे अग्निकणो से जीवन,
तीक्ष्ण बाण से नूतन मर्जन।
हम घुटने पर नाश-देवता,
बैठ तुझे करते है वन्दन,

११ सृजन-क्षण

जो कि तुम्हारे गर्त बने हैं अक्षमताके,
उनपर लहराकर भरता मैं एक अवज्ञा।
वही गभीर अतल होते है,
वेही सदा अमल होते है,
फिर जाती जिनपर वन्या-सी मेरी प्रज्ञा।
जबकि स्वय मै सुज्ञ बना हूँ
अज्ञोका अन्तर पाकर ही,
सदा रहूँ उनका चाकर ही
वे कि जिन्होने आत्मरक्त से मुझको सींचा।
कैसे हँस सकता हूँ मैं उन पर ही।
उनकी मर्यादाएँ पाकर
दरिया अमर्याद लहराया,
अपने स्वरमें स्वरातीत गीता दुलराता
मैंने अरे उसीको पाया।
वे अपूर्णताए, ईर्ष्याएँ
मुझमे घुलकर धुलकर बनतीं सूर्य सनातन,
यह छिछलापन लघु अन्तर का
क्षण-क्षण नूतन को करता है शीघ्र पुरातन।
यों नूतन की विजय चिरन्तन,
महामरण पर महाजन्म का उदय क्षिप्रतर,
महा भयकर से बहता है परम शुभकर।
जो खण्डित औ' भग्न रहे हैं,
वे अखण्ड देवता उन्हीके
मुझमे आकर मग्न हुए हैं।
ये आँसू, ये चिन्ताके क्षण
मुझमे आकर, पा परिवर्तन
जगके सम्मुख नग्न हुए हैं।
ओ रे, भग्न नग्न मलिनोंके
खण्डित उग्र विकलके सागर,
ओ कुरूप वीभत्स सनातन—
की प्रतिनिधि प्रतिभाके आगर,
अरे, अशिव बौने मस्तक के
चिरविद्रूप स्वप्न आत्मान्तक,

अरे अमगल हास, घृणित आनन्द,
मरणके सदा उपासक,
भय मत खाओ, अरे पिशाचो,
जबकि सत्य तुम बने हुए हो ।
अन्धकार में, किसी आड़ में,
किसी भाड़ की छाया मे तुम
क्यों छिपते हो ? अरे भयकर
व्रण-से जग की काया में तुम !
मैं स्वागत करता हूँ सब का,
क्योंकि प्रकृति से सूर्य-सत्य हूँ ।
और जबकि तुम भव्य तने हो
मुझमे जलते स्वर्ण बनोगे
ज्वालाओंका नग्न नृत्य हूँ,
नभकी पृष्ठभूमि पर मेरी ज्वाला की छाया फिरती है,
काल झुलसता है, मुझसे सब तस्वीरे बनती गिरती हैं ।

पर यह कैसे ? जबकि तुम्हारे
लिये बना हूँ मैं प्रखर-प्रभ,
मेरे स्वर्ण-स्पर्श से आकुल
होता है अपार जीवन-नभ ।
मैं उत्साह अनन्त, और तुम क्यों उदास अति अक्षम ?
मेरी ममता हो जाती है पर कठोर औ' निर्मम ।
गर्वशील मुझको मत समझो,
किन्तु भार गुरु पाकर मैं भी
निज नयनों में हुआ भव्य हूँ, उत्साहित हूँ ।
यह उत्साह सफेद ज्वाल है
जोकि कलुषका महाकाल है,
इस मे पड़ कर तुम भी श्वेत बनोगे तप कर ।
नाप कौन पायेगा तुमको
आओगे जब इससे नपकर ।
मैं केवल तुमपर जीवित हूँ
मेरी साँस, किन्तु तेरा तन,
मेरी आस और तेरा मन,
तू है हृदय और मैं लोचन
मैं हूँ पूर्ण, अपूर्ण झेल कर ।
मैं अखण्ड, खण्डित प्रतिभा पर ।
मैं मैली आँखोंके अन्दर ज्योति गुप्त हूँ ।
मैं मैले अन्तरके तलमें
घन सुषुप्त आत्मा प्रतप्त हूँ

मैं हूँ नम्र धूलि के कण-सा,
मैं अजस्र पृथ्वी के मन-सा,
घन मृत्कणमे सृजन-क्षण मैं,
मलिनोंमें रह अग्नि-बिन्दु हूँ,
जीवन की सौन्दर्य-शान्ति में
नभोविहारी शरद-इन्दु हूँ ।
शुभ्रारुण किरणों से बिम्बित
रजत-नील सर उत्कट उज्ज्वल ।
जिसमें अनलोर्मिल, अनिलोर्मिल
कमल खिले हैं वे रक्तोत्पल ।
मनोमूर्ति यह चिरप्रतीक है
ध्येय-धृष्ट उरकी ज्वालामय ।
मेरी प्रज्ञा का सृजन-क्षण
ऐसा ऊष्ण शुभकर तन्मय ।

१२ अन्तर्दर्शन

मैं अपने से ही सम्मोहित, मन मेरा डूबा निजमें ही ।
मेरा ज्ञान उठा निज मे मे, मार्ग निकाला अपने से ही ।
मैं अपने में ही जब खोया तो अपने से ही कुछ पाया ।
निजका उदासीन विश्लेषण आँखों में आँसू भर लाया ॥
मेरा जग से द्रोह हुआ पर मैं अपने से ही विद्रोही ।
गहरे असन्तोष की ज्वाला सुलग जलाती है मुझको ही ॥
आत्मवचना-पीड़ित मेरा तिमिर-मगन उर विम्बित मुख पर ।
सिहर उठा मैं अश्रु-मलिन-मुख, अपने अन्तरके दर्शन कर ॥
मैंने मरण-चिन्तना की, जब जीवन का था दर्द बढ चला ।
मानवता का कटु आलोचक अपने को ही दण्ड दे चला ॥
मेरा मन गलता निजमे जब अपने से ही हार खा चुका ।
दारुण क्षोभ-अग्नि मे अपना प्रायश्चित्त-प्रसाद पा चुका ॥
रक्त-स्रोत अन्तर से फूटा—लाल लाल फव्वारा दुख का ।
आत्म-दाह की ज्वलित पिपासा के युगमें आया क्षण सुख का॥
रक्त-स्रोत अन्तर से फूटा, मेरा गात शिथिल हिम शीतल ।
मैंने साक्षात् मृत्यु देख ली एक रात सपने मे उज्ज्वल ॥
मैंने यह जब कहा किसी से तो कहलाया अपना खूनी ।
जीवन-दाह-शांति-हित किसकी गोद अपेक्षित ऊनी ऊनी ॥

१३ आत्म-संवाद

[यह एक नाटकीय आत्म-सवाद है जिसमे प्रकाश में बोलनेके वाक्य ब्रैकेट मे नहीं हैं। जो ब्रैकेट मे हैं वे यथार्थ आत्मस्वीकृतिया है, और जो उसके बाहर हैं वे उसके यथार्थ rationalizations हैं। बाहरी जिन्दगी मे ये rationalizations काममे आते है, किन्तु कुछ क्षणो मे मनकी यथार्थ अवस्था एकाएक खिच आती है। तब इन दोनोका विरोध मनमें चित्र-रूप सा सामने आता है। उसीको नाटकीय ढगसे पेश किया गया है।]

आज छन्दोंमें उमड़ती आरही है बात
जो कि सादे गद्यमें खुलती रही
जो कि साधारण सड़क चलती रही
आज छातीमे घुमड़ती आ रही है बात
रास्ता है, पैर हैं, औ' धैर्य चलता जा रहा है
(किन्तु उरमे क्यों उदासी शापसी
प्रत्येक चेहरे पर लिपी जो राखसी)
प्राण है, औ' बुद्धि का भी कार्य चलता जा रहा है
वक्ष है, वल है, हृदयमे ओजभी तो कम नहीं है
(किन्तु उरमे अश्रु हैं अति म्लान भी
विवशता का है सहज अनुमान भी)
स्नेह है, आदर्श है, औ' तेज भी तो कम नहीं है
तर्क है औ' तर्क का राक्षस हमारे बाहु मे है।
(किन्तु चिन्ता गुनगुनाती असगुनी
मौन ले बैठी व्यथा बनकर मुनी)
चन्दका माधुर्य उर के राहु मे है।
चुप रहो तुम, तीरसा आगे चला जाता सदा मैं।
(भुनभुनाता यह हृदय चुपचाप है
गुनगुनाता जो मनुज का शाप है)
निर्झरोसा मैं चपल बहता चला जाता सदा मैं।
मूर्ति मैं भव्योच्च, मृदुगभीर, तन्मय, पूजनीया
(किन्तु उर है हिम-कठिन नि सज्ञ भी
हृदय मे शका भरी है अज्ञ-सी)
सत्यकी व्याख्या स्वय हूं ॥ (जो सदा है शोधनीया)
सफल हूं (पथभ्रष्ट हू) अविजेय हू (आधीन हू मैं)
हृदय मे घुन-सा लगा रहता
(पाप यह दारुण जगा रहता)
मैं महाशोधक महाशय सत्यजलका मीन हू मैं
सत्य का मैं ईश औ' मैं स्वप्नका हू परम स्रष्टा
(किन्तु सपने ? प्राण की है बुरी हालत
और जर्जर देह, यह है खरी हालत)
उग्रद्रष्टा मैं स्वय हू जब कि दुनिया मार्ग भ्रष्टा

१४ व्यक्तित्व और खण्डहर

[व्यक्तित्व किन्ही भी कारणोंसे विकेन्द्रित हो, परन्तु उसके लिये पुकार अवचेतन से, जो कि जीवन-शक्ति का रूप है, निकट सम्बन्ध रखती है। वह समग्रता की ओर, मनस्सगठन की ओर का प्रयत्न केवल बुद्धिगत ही नहीं, शुद्ध जीवनगत है। परन्तु यह विकेन्द्रीकरण अन्तर्वाह्य विरोध, परिस्थिति-विरोध, आत्मविरोधों, के द्वारा शुरू होता है।

यह विकेन्द्रित व्यक्तित्व, यानी व्यक्तित्व का खण्डहर किसी अबूझे समय में अपने गत वैभवपर रो उठता है। उसी का कल्पनात्मक चित्रण निम्न कविता है।]

खण्डहरों के मूक औ' निस्पन्द से
उमड़े अकेले गीत।
ये भूत से निर्देह भयकर
बेचैन काले व्यथित आतुर
तिमिर नूपुर के अकेले स्वर,
उमड़े अकेले गीत।
हुए चचल भयद श्यामल
भूत सम आकुल अकेले गीत

रात मे जब छा चुका खण्डहर तिमिर मे
तिमिर खण्डहर मे,
घूमते उस कापती-सी वायुके स्वर मे
अकेले गीत।
तम आवरण में लुप्त झरती धार के तटपर
रागिनी में म्लान-तन-मन-करुण-रोदन-गीत
भर चला जाता विपिन के पात पुष्पो में प्रकम्पन
शिथिल उर गभीर सिहरन।
ये अकेले गीत
दब चुकी जो मर चुकी है आत्मा,
खतम जो हो ही गई आकाक्षा,

व्यक्ति में व्यक्तित्व के खण्डहर
गानकर उठते उसी के गीत।
ये अकेले गीत, स्वरलयहीन गीत
मौन से बेचैन, लोचन-हीन गीत।

शीत रजनी काप उठती
भर विजन के गीत, खण्डहर गीत
ये अकेले गीत, पत्थर गीत, हिम के गीत
अन्धी गुफा के गीत!
बेचैन भूतों से, व्यथित के स्वप्न से वे गीत!
वे दुष्ट औ' दयनीय गीत,
कमज़ोर औ' कमनीय गीत,
उन्माद की तृष्णा सरीखे गीत!
स्वप्न की विक्षुब्ध सरिता के भयानक गीत!
निशि के अकेले औ' अचानक गीत!

विपिन औ' निर्झर,
तिमिर के घन आवरण मे, भावना के इस मरण मे
हैं हुए भय-स्तब्ध, तन निस्पन्द, दिग् रव-हीन
क्योंकि आलोड़ित हुआ विक्षुब्ध गीतों का महा तूफान,
ले तीक्ष्ण स्वर-सागर-उफान!
तम शून्य मे नभ के प्रवाहित हो चला भूचाल सा यह गान
इस शीत स्वर के
कष्टदायी स्पर्श-शर-निर्झर प्रखर से
हुआ आप्लावित रुदित वन का सतत-कमजोर-प्रान्तर-प्राण
दब चुकी जो, मर चुकी है आत्मा,
खत्म जो हो गई, आकाक्षा।
आज चढ बैठी अचानक, भूत सी इस कापते नर पर
विक्षुब्ध कपन बन चढी जाती सरल स्वर पर
प्रश्न लेकर, कठिन उत्तर साथ लेकर,
रात के सिरपर चढी है, नाश का यह गीत बनकर।
हस पड़ेगी कब सहज प्रकाश का यह गीत बनकर!

१५ मैं उनका ही होता—

मैं उनका ही होता, जिनसे
मैंने रूप भाव पाये हैं।
वे मेरे ही हिये बधे हैं
जो मर्यादाएं लाये हैं।
मेरे शब्द, भाव उनके हैं,
मेरे पैर और पथ मेरा,
मेरा अन्त और अथ मेरा,
ऐसे किन्तु चाव उनके हैं।
मैं ऊंचा होता चलता हू
उनके ओछेपन से गिर गिर,
उनके छिछलेपन से खुद-खुद,
मैं गहरा होता चलता हू।

१६ हे महान्!

हे महान! तव विस्तृत उर से
दृढ परिरम्भण की क्षमता दो,
तव स्नेहोष्ण हृदय का स्पन्दन
सुन पाने की आकुलता दो।
जिससे विवश रहस्य खोल दे
सत्य कि विद्युत् विह्वलता दो।
जो तुझसे सघर्ष कर सके
ऐसी उर मे कोमलता दो!
तुझसे कर सघर्ष, स्पर्श से
तेरे नव चेतनता आये,
तुझमे करके युद्ध, क्रुद्ध हो
जीवन यह ऊंचा उठ जाये।
तेरे तन के अणु-अणु-से तब
निरावरण हो अन्तर्ज्वाला,
एक एक अणु सत्य खोल दे
ऐसी सतह स्वय चल आये।
तेरे उर की मर्म-ज्वाल को
मुक्त खोलने की ममता दो,
हे महान! तव विस्तृत उर से
दृढ परिरम्भण की क्षमता दो।

नेमिचन्द्र

[नेमिचन्द्र ; जन्म आगरे में अगस्त १९१८ मे हुआ, वहीं शिक्षा पाई और सन् १९४१ में एम० ए० पास किया। उसके बाद एक वर्ष तक शुजालपुर मे शिक्षकका काम किया , अब कलकत्ते मे हैं। 'नवम्बर १९४२ से कलकत्ते के एक मारवाडी दफ्तर मे किरानी हूँ , आगे की राम जाने ।' विवाहित ।

लिखना सातवी कक्षा से प्रारम्भ किया। कहानिया और गद्य-काव्य भी लिखा पर मुख्यतया कविता ही लिखी , पिछले दो चार साल से आलोचनात्मक निबन्ध भी। लिखना 'मूड'पर आश्रित है ; अत. बहुत अधिक नही लिखा है-। पत्र पत्रिकाओं मे रचनाएँ छपती रही हैं, पुस्तकाकार अभी नही ।

पढने मे विशेष दिलचस्पी है। राजनीतिमे भी—क्रियात्मक रूपसे। मार्क्सवादी 'और कम्युनिस्ट भी'। सगीत में भी रुचि है। 'बन्दूक से निशाना लगाने और घोडेपर सवारी करने में बड़ा आनन्द आता है', पर कलकतिया किरानी इसके पर्याप्त साधन नहीं पाता, अत भ्रमण के लिए उत्सुकता बनी रहती है। "जब भी वक्त मिले और साधन हो तो घूमना पसन्द करता हूँ ।"]

वक्तव्य

कुछ कविताएँ पाठक के सामने प्रस्तुत हैं। उनके नए रूप और स्वर का कलात्मक मूल्याकन पाठक स्वय करेगा। इसलिए उनके बारे मे कुछ भी कहना यहाँ मुझे इष्ट नही। किन्तु तीव्रतम सघर्ष के इस युग में अनेक बाहरी दबावों के कारण जब व्यक्ति टुकड़े टुकड़े होकर बँट जाता है, जब बुद्धि और हृदय, आदर्श और व्यवहार, विवेक और कर्म किसी मे परस्पर सामजस्य नहीं बचता तब चार-छह कविताओ के सहारे कवि के व्यक्तित्व की सही उपलब्धि असभव नहीं तो कठिन अवश्य होती है। और मेरा विश्वास है कि कला का अतिम मोल-तोल कलाकार के व्यक्तित्व के सहारे ही किया जा सकता है इसलिए कवि के भावना जगत की अनेकानेक विविधताओ मे से एक-सूत्रता यदि सभव हो तो पाठक के लिए सुलभ कर सकना ही इस वक्तव्य की सार्थकता हो सकती है।

प्रस्तुत कविताओ मे से अधिकाश की मानसिक पृष्ठभूमि मे सक्राति के रगो की ही प्रधानता है। सस्कार और विवेक की कशमकश की चेतना ही इन कविताओ का विषय है। मन को बाहरी जगत की अनेक बातों से सतोष नहीं है, उसके सस्कार पगपग पर किसी दीवार से टकरा जाते हैं। किंतु जब इस टकराहट से बचने का मार्ग वह खोजने चलता है तो अपने आप को और भी अकेला बना लेता है। तीव्र श्रम विभाजन के फल-स्वरूप आज हरेक आदमी की जिन्दगी एक इकाई बन गई है जिसे साधारणत ऊपर से देखने पर भ्रम होता है कि वह अपने आप मे सम्पूर्ण है, जब कि सत्य यही है कि उसी श्रम-विभाजन के फल-स्वरूप परस्पर सहयोगिता और निर्भरता असाधारण रूप में बढ गई है। किन्तु विवेक चाहे जितना इस सत्य को सामने रक्खे, आज के कवि का मन प्रत्येक समस्या को सामने पाकर जैसे किसी की गोद मे मुँह दुबका लेना चाहता है, अपने भीतर ही आत्मस्थ हो रहना चाहता है। प्रस्तुत कविताओ के पीछे विवेक द्वारा इस आत्मस्थ होने की चाह को परखने की प्रवृत्ति ही कवि की है। अपने सस्कारों और भावनाओं के जगत को वह समस्याओं को सुलझाने के सही मार्ग पर—अर्थात् एक सामूहिक प्रयत्न के द्वारा उनका समाधान पाने के मार्ग पर—लाने में अपनी असमर्थता को वह बार-बार अपने विवेक के द्वारा चीर-चीर डालना चाहता है। उसके मनका सारा सघर्ष इसी बिन्दु पर केन्द्रित हो उठा है।

इसके अतिरिक्त कुछ कविताए, जैसे 'अनजाने चुपचाप' या 'डूबती सध्या' मे, केवल सौंदयानुभूति की ही अभिव्यक्ति है। वे उन क्षणों की सृष्टि हैं जब मन सघर्ष से भागा नही है पर तो भी सघर्ष के अतिरिक्त जीवन मे भव्य और आनन्ददायक भी जो कुछ है उससे कवि का मन अभिभूत हो उठा है।

मेरा विश्वास है कि सौंदर्य का आकर्षण 'पलायन' की ही प्रवृत्ति का सूचक सर्वदा नहीं होता। साहित्यिक आलोचना मे आजकल यह शब्द अनेक प्रकार के वादविवाद का विषय बन गया है। किंतु सौंदर्य की अनुभूति तो जीवन्तता का, जीवन की स्वीकृति का एक अत्यत महत्वपूर्ण चिन्ह है। जिस व्यक्ति मे सौंदर्यबोध अत्यत क्षीण है, उसे किस हद तक जीवित कहा जायगा यह कहना कठिन है। सौंदर्य की अनुभूति तो व्यक्तित्व

को और भी sensitive और सवेदनशील बना देती है। पलायनशील साहित्य वही होगा जिसमे साहित्यकार एक प्रकार के सौंदर्याभास के कल्पना-जाल मे अपने दायित्व से भागता है, जो सौंदर्य के प्रति सचमुच आकृष्ट नहीं है बल्कि जो सौंदर्य को अपनी दायित्व-हीनता की एक आड़ बनाना चाहता है। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ जैसे व्यक्ति सचमुच मे सौंदर्यपूजक होने के कारण ही आज के अधिकाश 'प्रगतिशीलों' से अधिक ईमानदार और जीवन्त थे।

साहित्य में प्रगतिशीलता मे मेरा विश्वास है और उसके लिए एक सचेष्ट प्रयत्न का भी मैं पक्षपाती हूँ। किन्तु कला की सच्ची प्रगतिशीलता कलाकार के व्यक्तित्व की सामाजिकता मे है व्यक्तित्वहीनता में नहीं। आज जोर-जोर से प्रगति की पुकार करने की आवश्यकता इसी से हो गई है कि व्यक्तित्व आज खड खड हो चुका है। अनेकानेक सामाजिक, राजनैतिक कारणों से जाने-अनजाने कलाकार बहुत से वर्गभ्रमों का शिकार होता है। इसलिए वह अपने व्यक्तित्व की विशिष्टताओं की सामाजिकता खो चुका है। वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था के सर्वव्यापी भ्रम से वह मुक्त नहीं हो पाता। किन्तु इसीलिए ही यह बात स्पष्ट है कि कविसे प्रगतिशील होने की माँग का अर्थ है कि वह जीवन की ओर अपने दृष्टिकोण को बदले। अपने ही सामाजिक दायित्व और स्थान को नहीं बल्कि अपने काव्य के भी सामाजिक महत्व को समझे।

यह बात दुहराने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए कि कवि पर भी अन्य व्यक्तियों की भाँति एक नागरिक और सामाजिक दायित्व है। वह सर्वदा ही रहा है और कवि सर्वदा ही एक महत्वपूर्ण सामाजिक कर्त्तव्य पूरा करता आया है। पर आज यही महत्व पूर्ण सत्य कवि के मन से श्रम-विभाजन के कारण निकल गया है। और वह अधिक से अधिक आत्म-केन्द्री और अहकारी बनता जा रहा है। वास्तविकता की चोट से वह नहीं बच पाता है तो वह और भी अपने आप मे सिकुड़ रहना चाहता है। फलस्वरूप उसका अपना आतरिक द्वन्द्व और भी बढ़ जाता है, उसकी अतश्चेतना मे दरार पड़ जाती हैं जिसका सीधा असर कविता पर पड़ता ही है। इसीलिए आज के हिंदी के अधिकांश काव्य मे या तो उच्छ्वास है या फिर patterns। दूसरे शब्दो मे या तो व्यक्ति को अपने से अवकाश नही या वह बुद्धि के जाल में इतना उलझा है कि भीतर मन को देखने की क्षमता नहीं। दोनों ही रास्तों से कविता की हत्या होती है।

समस्या इसी से यही है कि बिना सचेष्ट नागरिक, वास्तवदर्शी हुए कवि अधिक काल तक कवि नही रह सकता। राजनैतिक, सामाजिक शक्तियाँ वह चाहे या न चाहे उसे आकर बहा ले जायेंगी। किन्तु यदि वह विवेकपूर्वक वास्तव का सामना करता है तो वह अपने काव्य को न केवल सच्चा बना सकेगा बल्कि उसे मानवता की मुक्ति के लिए एक बड़ा भारी अस्त्र बना सकेगा क्योंकि स्वभाव से ही कला मानव-मुक्ति का आलोक है। इसी से आज निरा 'कवि' कोई कलाकार नहीं।

इस स्थापना की सचाई एक और तरह से भी परखी जा सकती है। ज्यो ज्यो श्रम-विभाजन के फलस्वरूप कवि के मन की दुविधा और विषमता बढती गई है त्यो त्यो कविता, विशेष कर कविता, अपना महत्व खोती चली है। और आज परिस्थिति यह है कि बहुतसे लोग कविता के भविष्य के बारे मे बहुत सदिग्ध हैं। किंतु इस सदेह की जड़ ही कवि के व्यक्तित्व के सामाजिक अश (component) को न समझ पाने से जमती है। यदि व्यक्तित्व मे धीरे धीरे पड़ती जानेवाली इन दरारो का सामाजिक विश्लेषण सामने रहे तो कविता के भविष्य का एक दूसरा ही चित्र उपलब्ध होगा। जिस दिन व्यक्ति, कवि सचेष्ट भावसे इस युगों पुराने सस्कारगत आतरिक विरोध को सुलझा कर अपनी चेतना को पूर्ण रूपसे सामाजिक बना सकेगा, उस दिन कविता फिर अपने प्रकृत रूपमे निखर उठेगी। बल्कि बहुत दिनों बाद फिर उसी दिन सच्ची कविता सभव हो सकेगी।

\+ \+ \+

कला, साहित्य, कविता के बारे मे इन सब लम्बी चौड़ी बातो को आप इन प्रस्तुत कविताओं मे खोजे यह तात्पर्य मेरा नहीं है। सक्राति काल के कवि की

कठिनाइयाँ बहुत हैं। अपना मार्ग पहचानने के लिए और फिर उसी पर बने रहने के लिए मध्यमवर्गीय प्राणी, कवि को निरंतर बुद्धि का ही मुँह ताकना पड़ता है। शायद इसीलिए इस युग मे श्रेष्ठ कविता अभी हिंदी के लिए संभव नही है। अधिक से अधिक अगर कवि अपने मन की बेईमानी को भी ईमानदारी से देख कर दुनिया के आगे रख सके तो वह बहुत है। क्योंकि इस तरह से न केवल वह अपने व्यक्तित्व के विरोध को मिटाने के संघर्ष की ओर से सचेष्ट रहता है, साथ ही वह आनेवाली पीढ़ियों के लिए एक नई पगडंडी तैयार करता चलता है जिसे खूँद-पीट कर किसी दिन शायद प्रशस्त राज-मार्ग निर्मित हो सके।

—नेमिचन्द्र

१ कवि गाता है—।

कवि गाता है—
संक्रांति काल का कलाकार कवि,—गाता है ;
देख चांदनी रातें कवि का नाच उठा उर,
स्वप्नदेश की परियों के गायन से उसका गूँज उठा स्वर,
आधी मुँदी हुई पलकों में
मदिरा-सा किस छवि का मीठा भार लिए,
वह बेसुध-सा है ,
उसके नयनों में झूल रही किस रूप-परी की सघन याद
उसके मनमें कितनी पीड़ा, उसके मनमे कितना विषाद ?
और तभी वह गा उठता है
गीले गाने,
असफलताके, प्यार प्रीतिके, अपने दुखके—
कुछ बेमाने, कुछ अनजाने।
फूट उठा है उसका उर
वह गाता है,
संक्रांति काल का
पीडित मानवता के युग का कलाकार कवि,—
गाता है !

कभी यहाँ आते हैं कोई बड़े राज्यके राजा साहब,
कितने दानी !
कभी प्रान्त के आते हैं सरकारी अफसर,
या कोई जनता के 'लीडर'
जो होते हैं सभी कला-कविता के प्रेमी—
कितने ज्ञानी !
उन सबके स्वागत मे
जब तब किसी सेठ के घर होती ही रहती है
दावत-महमानी।
कवि भी आमन्त्रित होता है,
वह भी आए ,
राजा साहब, अफसर, या जनताके 'लीडर'—
(या वह जो हों !)—
के स्वागत में गीत बनाकर लाए, गाए ,
और काव्य के चमत्कार से महमानों का दिल बहलाए।
आमन्त्रण की गुरुता से ही
सहज गर्व से फूल-फूल उठती है तब उस कवि की छाती
—गद्गद् होकर गा उठता है कवि
तब राजा और सेठ की स्तुति के गायन।
गाता है वह कलाकार,
जब बाहर दुनिया में फैली घनघोर विषमता,
दिशि-दिशि से उठ रहा भयानक चीत्कार
उसको तो है बस अपने सपनों से ममता—
वह कलाकार !
क्या परवा, उसको एक ओर भूखे मरते लाखों प्राणी,
वह दिव्य दृष्टि से देख रहा उसकी तो युग-युग की वाणी,
उसके स्वर मे है बोल रही देवी सरस्वती कल्याणी !

कवि द्रष्टा है
जीवन के पीछे छिपे हुए अज्ञात तत्वका।
मानवता के अमर चिरन्तन नियमों का
कवि स्रष्टा है।
वह क्यों गाए
इस वर्त्तमान के, अति कुत्सित वीभत्स अँधेरे के,
जड़ता के,
काले-काले क्रुद्ध गीत,
जब देख रहे उसके अधमूँदे नयन,
क्षितिज के पार दूर गरिमा के गौरव से मंडित स्वर्णिम अतीत!

वह गाता है—
षोड़शवर्षीया सुकुमारी,

बड़े बड़े महलों मे रहनेवाली सुन्दर राजकुमारी की प्रशस्तिमे
(राजमहल वे,
जिनकी गहरी नींवों पर बलिदान हो गए
भूखे, नर-ककाल अस्थि-पजर-से वे लाखों मजूर,
जिनके गरम रक्त से सिंचित
राजमहल यों छाती ताने आज खड़े हैं !)
रूप और वैभव की मदिरा में विभोर
कवि गाता है
अतृप्त यौवन के, लिप्सा के
गीले-गीले गलित गीत !
मृत्युगीत !!

कवि गाता है,
वह कलाकार है।
व्याकुल मानवता की सस्कृति की रक्षाका
उसके ऊपर आज भार है
भूत-भविष्यत-वर्त्तमान को देख रहा वह आर-पार है।
वह ईश्वर है,
वह ज्ञाता है,
दानवता से रौंदे जाते मनुष्यत्व का प्रतिनिधि है
वह कलाकार जो गाता है,
जो केवल गाता है—!

२ डूबती संध्या

डूबती निस्तब्ध सध्या ,
ग्रीष्म की तपती दुपहरी, प्रबल झझावात के पश्चात,
सुनसान शात उदास सध्या।
विरल सरि का चिर अनावृत गात
—जो किसी की आँखके अभिराम जादू के परस से
हो उठा है लाल,
ऐसा गात—
किस अनागत की प्रतीक्षा में खुला है ?
दो किनारे,
व्यथित व्याकुल—
बाहुबधन मे किसी को बाधने को
नित्य आकुल ,
व्यर्थ ही तो है,
युगोंसे इस अनावृत मुग्ध यौवन का
उपेक्षित देह का आह्वान
छवि का गान !
वक्षपर फैली सुनहली
अलस मन, अभिराम सिकता ,
तन बिछाए
चिर समर्पित जी छिपाए
युगों से चुपचाप—रिक्ता !

अस्त होते अरुण रवि का स्नेह-वैभव
इस चरम अवसान के पल में
बिखेरा चाहता है
विश्वपर अपनी प्रभा का दान
इसीसे प्रत्येक पल,
मानो किसी अतिरेक का हो घनीभूत स्वरूप,
पलक मे बुझ जायगा ऐसे प्रकम्पित दीप के
स्नेहिल हृदय का रूप।
थकी किरणों का जगत को प्रीतिका उपहार—
मन की कालिमा को प्यार से धो डालने का चिरन्तन व्यापार,
जो कि पल भर मे अभी हो जायगा नि शेष
हो उठा है
इसीसे अपनी क्षणिकता मे मधुर छविमान !

दूर जीवन के थपेड़ों से परे
सूने गगन मे आँख फाड़े
कल्पना-प्रिय युवक-कवि-सी सहज निष्प्रभ
खड़ी हैं वैभव-विहीन पहाड़ियाँ।
इस विभा के मधुर पल मे भी नहीं है
पत्थरों के,
इन पहाड़ी पत्थरों के हृदय मे कुछ स्नेह-कम्पन
प्राण का सचार
वे खड़े हैं अचल चिर अविकार !
वह विचित्र कुरूपता उनकी,
विभा के पार्श्व मे,
है हो उठी कुछ और भी असमान।
खूब तनकर यों अकेले खडे रहने का
असगत दर्प,
उच्चता का गर्व,

अपनी पूर्णता का वह निरतर भान,
ओछा अकिंचन अभिमान,
लगता है निरर्थक।
इस उचाई का नही है
भूमि के रसमय प्रणय मे योग,
इसलिए,
हलकी प्रलम्बित मौन छायाएँ गिराता
छिप गया सूरज कही पर दूर,
और थक कर चूर
दिन सोने लगा है साँझ की गहरी उदासी मे।

३ अनजाने चुपचाप…

अनजाने चुपचाप अधखुले वातायन से
आती हुई जुन्हाई-सा ही
तेरी छवि का सुधि-सम्मोहन
आज बिखर कर सिमिट चला है मेरे मन मे।
छलक उठा है उर का सागर
किसी एक अज्ञात ज्वार से,
किन सपनों के मदिर भार से,
किन किरनों के परस प्यार से,
पलभर मे यों आज अचानक।
यह किस रूपपरी विरहिन के उर की पीड़ा
मेरे जी में भी चुपके से तिर आई है
यों अनजाने।
गूँज उठा है अतर जीवन
किस फेनिल अरुणाभ राग से ,
किन फूलों के मधु पराग से
पुलकित हो आया है,
आकुल मधु-समीर।
जी के इस कानन मे भी फूली है सरसों,
इस वन का भी कोना-कोना
है भर उठा अकथ छलकन से ,
प्राणों के कनकन से
झरता मौलसिरी के फूलों-सा
अम्लान स्नेह।

तुम हो मुझसे दूर कहीं पर
यौवन के प्रभात मे विकसित,
डाली पर झुक-झुक
बल खाती,
सहज सरल निज क्रीड़ा में रत
कुन्दकली सी।
यह मधुमास सजीला चुप-चुप
तेरे उरके आँगन को
गीला कर-कर जाता होगा री;
परिमल के मिठास से भाराकुल,
यह बासती बयार,
उलझ-उलझ कर खोल-खोल देता होगा री,
तेरा कच-सभार सुरभिमय।
कुछ अनमनी उदासी से तुम
सहज भाव से,
अपने विकच लोचनों के ऊपर से—
वे लोचन जिनमे प्रतिपल मे
छलक-छलक आती है बरबस
छनी हुई करुणार्द्र मधुरिमा,
जिनमे होकर सुमुखि,
तुम्हारे सहज स्नेह का सब गीलापन
बिखर-बिखर आता है,—
किस रजनीगधा के मद से सदा लबालब
भरे हुए उन चचल नैनों के ऊपर से
हटा-हटा देती होगी वे केश हठीले।
यह चाँदनी निहार अचानक
उन अनार की अविकच कलियों-से होठों से,
तभी तुम्हारे मन का सब अनजाना उन्मन प्यार लजीला
बह-बह आता होगा रानी,
स्वर-धारा में।
पवन गुजरण से भी कोमल, अति कोमल वह,
निविड़ शून्य मे
तेरी वाणी का स्वर
भर-भर
गूँज गूँज उठता होगा,
अग-जग मे।

मैं एकाकी;

मेरे आगे टेढा-मेढा बिखरा फैला है
अनन्त पथ अब भी बाकी ।
बिना तुम्हारे,
इस बसत-रजनी की दूध भरी छाया मे
चला जा रहा हूँ मैं पग-पग
बिना विचारे, बिना सहारे ।
केवल रानी,
यह मदिरा-सी तरल जुन्हाई,
—किसी रूपसी सुरबाला के तनकी आभा-सी यह छाई—
भर जाती है मेरे मन मे तेरी छविका सुधि-सम्मोहन,
और प्यार से पिघल-पिघल कर
मेरा दुख हो आता पानी !

४ इस क्षण में

आज उचटा सा हृदय ,
साइरन बज जाय उसके बाद
निर्जन शून्य सड़कों सा निभृत, निस्सग, खाली,
व्यर्थता की स्याह-सी बेमाप चादर से
अभी ज्यों ढक गया हो शून्य जी का प्रान्त ।
होगया है आज इस क्षण में,
न जाने किसलिए उत्साह निर्वासित,
भयानक शीतके, हिम के, अचानक खुल गए है द्वार
कब-कब के रुके,
जी पड़ गया फीका विरस निस्सार
सब कुछ—मरण, जीवन, अरुक हृत्कम्पन !
असम्बद्ध अनेक तागे-से
हृदय से निकल कर
होते चले है निष्प्रयोजन ही किसी सुनसान-से मे लीन
और केन्द्रविहीन सा मन
चकित है,
कुछ थका-सा भी है
न पाकर इस विरसता की कहीं भी थाह ,
इस अलक्षित अनमनी झंकार का
अब कौन-सा है हेतु,
आखिर कौन सी है चाह ?

एक बस तुम ही
उदासी की अमा मे किरण-रेखा-सी
कही से
दूर ही से घोल देती हो विभा के रग ,
ग्लानि की इस घटाटोप अभेद बदली मे
तुम्हारी याद ही
बस कांप उठती है चमक सी ।

हड्डियों को भेद कर कँपकँपी जो उत्पन्न कर दे,
उस भयानक शीत बेला मे
तुम्हारी याद, प्रिय,
पत्तियो पर बस गई हिम की सतह-सी
सरल पावन और चिर अविकार ,
जिस अकल्पित दिव्यता की सुरभि से,
सौन्दर्य से,
मन का सभी व्यापार ही थम जाय,
पलक भी हो जायँ स्थिर, निस्पद,—
उस परम आनन्द-सी,
निष्कलुष सौन्दर्य के आगे उमड़ती विवशता-सी
पूर्ण, व्यापक, मधुर ····

इस तुम्हारे सुधि-परस से
हो चली
सब ग्लानि, कड़ुवाहट हृदय की दूर
खुल रहे हों बद वातायन कि जैसे प्राण के इस कक्ष के।
आज ही प्रिय,
इसलिए ही आज पहली बार ही,
मैं पा गया हूँ तुम्हे प्ररम्प्र
चीन्ह पाया हूँ
कि इतनी दूर से,
इस अगम व्यवधान को भी चीर कर
आकुल तुम्हारे स्नेह के आलोक का सस्पर्श
मेरे अनमने सतप्त प्राणो को
सदा भरता रहेगा
चैत की पूनो,
शरद की चाँदनी के गीत के बेहोश स्वर-आरोह से
रात-रानी के नशे से,
सुरभि से !

५ धूल भरी दोपहरी

धूल भरी दोपहरी
जगती के कण-कण में गूँजी आकुल सी स्वर लहरी
सरल पल आते-जाते
करुण सिकता भर लाते
एक मूर्च्छना-सी प्राणों पर वेमाने बरसाते
अलसता होती गहरी !

मधुर अनमनी उदासी
एक धूमिल रेखा-सी —
छाई है , बहता जाता है पवन अरुक सन्यासी
कौन देश को ठहरी ?
आकर यों चल दिए कहाँ ओ जग के चचल प्रहरी !

६ आगे गहन अँधेरा है····

आगे गहन अँधेरा है, मन रुक-रुक जाता है एकाकी
अब भी है टूटे प्राणों मे किस छवि का आकर्षण बाकी ?
चाह रहा है अब भी यह पापी दिल पीछे को मुड़ जाना
एक वार फिर से दो नैनों के नीलम-नभ मे उड़ जाना
उभर-उभर आते हैं मन में वे पिछले स्वर सम्मोहन के
गूँज गए थे पल भर को बस प्रथम प्रहर मे जो जीवन के
किन्तु अँधेरा है यह, मैं हूँ, मुझको तो है आगे जाना
जाना ही है—पहन लिया है मैंने मुसाफिरी का बाना
आज मार्ग मे मेरे अटक न जाओ यो ओ सुधि की छलना !
है निस्सीम डगर मेरी मुझको तो सदा अकेले चलना
इस दुर्भेद्य अँधेरे के उस पार मिलेगा मन का आलम
रुक न जाय सुधि के बाँधों से प्राणो की यमुना का सगम
खो न जाय द्रुत से द्रुततर वहते रहने की साध निरन्तर
मेरे उसके बीच कहीं रुकने से बढ न जाय यह अन्तर

७ क्या भाया ?

क्या भाया ?
अनजाने मन क्यों इस कोलाहल में खिच कर वह आया ?
वे वन की सध्याएँ निर्जन
मदिर अरुण, पीली,
भोली-सी नीली ,
सूना निर्भर-तीर
कहीं से मौलसिरी का परिमल उन्मन
लाया सिहराता समीर,—
भर लाया ।
नन्ही चिड़ियों का कलरव सुन
पूछ-पूछ उठता था मन,
यह क्या गाया,
भोली चिड़ियो ने क्या गाया ?
ये उलझे आवरण यहाँ के,
बन्धन की छाया
झूठी जीवन की परिभाषा
रोते-से आडम्बर की ओछी-सी अभिलाषा·······
इस कोलाहल के अञ्चल मे आकर क्या पाया ?
क्या पाया ?
क्यों मन खिच कर वह आया ?

८ जिन्दगी की राह

यह ज़िन्दगी की राह,
है कब चुकी,
चिर विकल मानव के अधूरे-से बने उन स्वप्नलोकों की.
अरुक यह गीत लहरी कब रुकी,
है कब चुकी ,
एक स्वर से, एक लय से चल रही है
युगों से जिसके सहारे त्रस्त मानव के हृदय की धुकधुकी
जो कब चुकी, है कब रुकी—?

है निरन्तर ही प्रगति की,
एक गति से दौड़ने की छिपी मन मे चाह,
मेघ माला से लदे,
ऊँचे बरफ के अनुल्लघ्य, अगम्य पर्वत ,
काँपते तूफ़ान के विक्षोभ से चचल
अछोर तरग सकुल,
सर्वभक्षी सागरों को रौंद जाने
लाँघ जाने का अथक उत्साह
ऐसी चाह,—
यह है जिन्दगी की राह !

यहाँ रुकने का न कुछ अवकाश
मौत से भी तेज गति से चल रहा है आज जीवन
किन्तु तो भी है न मंजिल पास
है ऐसा विचित्र प्रवास।

इस निरन्तर भागने से हार कर रुक भी गए,
तो—
क्या यहाँ तुम इस डगर में किसी से दो बात करके
कहोगे अपने हृदय का दर्द ?
इस अकेली यात्रा मे कहीं से पल भर अटक कर
जो सुनहली गहन-पीड़ा का मधुर संभार
लाए हो पथिक
आकुल किसी का प्यार,
आतुर भीगते-से लोचनों से बरसता कुछ नेह का संसार,
उसे कह दोगे किसी से ?
और खोलोगे
सरस सुकुमार
अपने व्यथित प्राणों मे घुमड़ती आह ?
किंतु यह तो पत्थरों की राह।
दूर तक सूनी अकेली पत्थरों की राह,
वे कठिन पत्थर
तुम्हारी कथा सुन जो दे सकेंगे एक ही,
बस व्यंग की तीखी हँसी का एक ही उपहार !
सुख-दुखों के कल्पना-कोमल खिलौने
वज्र-निर्मम पत्थरों पर पड़े,
पल मे टूट जाएंगे,
नहीं हैं इन्हे कुछ परवाह
ऐसा पत्थरों का प्यार !

यह है पत्थरों की राह !
यहाँ रुकने का नही अवकाश,
मंजिल दूर हो या पास,
हो उत्फुल्ल, मधु से सिक्त, छलकन से भरे
ये प्राण,
या हो चिर निराश उदास
नहीं अवकाश !

जिन्दगी की राह के कुछ दूसरे ही है नियम
कुछ दूसरे ही ढंग।
सामने जिसके प्रखरतम
ज्योति का,
नव ज्वाल की भीषण प्रभा का लाल पावन रंग—
तड़पता विद्रोह से अस्थिर सितारा !
आज पथदर्शक वही है
चले आओ उसी आभाके सहारे,
व्यर्थ मत खोजो किसी छवि के,
किसी मधु-आह्वान मे खोए हुए कवि के
रंगीले कल्पना के परीलोकों के किनारे !
सब भटकना छोड़ पथी
आज आओ साधना की राह,
जीवन एक ऐसी राह।
सर्वहारा,
प्रगति के उद्दाम नव उन्माद से बेचैन
आकुल एक धारा
एक सतत प्रवाह
ऐसी जिन्दगी की राह !
जीवन एक लम्बी राह !

६ व्यर्थ !

मार्ग दर्शक बोल दो—
हो रही हैं पुतलियाँ धुँधली अनवरत चेष्टा से
देखने की
गहन की अस्पष्टता को चीरकर अपना विलम्बित लक्ष्य,
जो कि मानो व्यंग से
उपहास से,
निर्मम,
सरकता जा रहा है
दूर,
दूरतर,
अनुल्लंघ्य अभेद तम मे से
अचानक ही डरी-सी काँपती धीमी किसी आवाज-सा ही
दूरतम ...

किंतु मैं हारा नही हूँ,
फड़फड़ाती हैं अभी बाँहे
कि अपने मार्ग के अवरोध सारे तोड़ दूँ

फेफड़ों मे रक्त बहता है अभी इतना
कि कस लूँ
उस बिखरती अथिर छलनामयी को
आश्लेष मे,
जो तोड़ दे व्यवधान
करदे एक, एकमएक
दो इन दूर पर चलते सितारों को।

किन्तु पथ-दर्शक,
विवश मैं हार जाता हूँ भयकर मौन से,
बेमाप अपने प्राण मे छाए हुए एकात से,
सतत निर्वासित हृदय से।
तिरस्कृत व्यक्तित्व के
थोथे असगत दर्प ने मन की
सहज अनजान स्वाभाविक अनावृत धार को
कर दिया है कुंठित—
सहज अगारे
कि मानो दब गए हों, बुझे-से
जैसे कि ठडी राख-से।

जल रहे हैं,
मात्र छूने से लगा दे,
प्रज्वलित कर दें अकल्पित ज्वाल-मालाएँ—
ऐसा दाह भी है,—
है नहीं बस शक्ति ही सहयोग की,
सब तरफ फैले हुए
उन विविध गतिमय, प्राणमय
सचलित तत्वों से किसी सम्बध की,
कुछ स्वत स्फूर्त सजीव विनिमय की—।
इसलिए ओ मार्ग-दशक,
आज मैं बस व्यर्थ हूँ
सुनसान मे निर्जन खड़े ऊँचे महल-सा!

१० उन्मुक्त

होगया आज उन्मुक्त विहग पल में अबध
छुट गए वासना के नाते सब मोह-अध
खुल गए पलक मे ममता के सब नागपाश
कारा-तमके वासी ने देखा उषा-हास
उड़ चला गगन मे अपने आतुर पख खोल
भर गई मुक्ति मन में कुछ वह मस्ती अमोल
उद्दाम वेग से उड़ा चला मानो अशात—
हो नभकी सीमा ही छू लेने को नितात
उड़ जाएगा मानो अगजग के आर-पार
उसके अतर में आया है वह रक्त-ज्वार
है आज न उसके प्राणों को कोई विराम
वह छोड चला रुकने के सारे सरजाम
उसके आगे क्या ठहरेगा कोई विरोध
हो गया उसे अपनी क्षमता का पूर्ण बोध
चिरदिन से बदी आकुल-सा कोई प्रवाह
पा जाय अचानक ही अपनी अवरुद्ध राह
उसके आगे तब ठहर सका है कौन कूल ?
—जब हो पड़ती है प्राणों की गगा अकूल।
वह आज चीर देगा अम्बर का उर अनत
युग-युग की जड़ता का कर देगा आज अत
वैषम्य शृखलाएँ होगी सब चूर चूर
उग रहीं स्वर्ण रेखाएँ समता की सुदूर
वह आज मिटा देगा जीवन से वृथा दभ
होगा उस पल मे ही नवयुग का समारभ।

धीरे-धीरे कलियों के खुलने के समान
उस गहन वेदना का रहस्य वह गया जान
है काँप रहा जिससे ससृति का वक्ष-देश
है कठ रुँधा-सा पलके अविचल निर्निमेष
उस चिर असीम के आगे निज सीमित कुरूप
अपने मनका पहचान गया है वह स्वरूप
लगता है कितना ओछा अपना क्षुद्र प्यार
कितना दुर्बल है बौना अपना अहकार
पर आज धुल गया है सारा वह छद्मवेश
पहचान गया है वह अपनी लघुता अशेष
वे घोर अपावन छलना के पल गए बीत
वह आज विसर्जित है प्रभु-चरणों मे पुनीत
ममता के बधन, बधन की ममता समस्त
अब टूट चुकी, उसका पथ फैला है प्रशस्त।

भारत भूषण अग्रवाल

[**भारत भूषण अग्रवाल**, "जन्म अगस्त १९१९ मे मथुरा में हुआ। शिक्षा मथुरा, चन्दौसी और आगरा में पाई। सन् १९४१ मे एम० ए० पास किया। सन् १९४३ मे विवाह हुआ। "सन् १९४१ मे अचानक कलकत्ते आ टपका और तब से इस महानगरी के विशाल जाल में फँसा हूँ—नौकरी के चक्कर में।"

कविता, कहानी, नाटक, व्यग्य लिखते हैं। प्रकाशित रचनाओ मे दो कविता-सग्रह और एक एकांक है। "तुक के चमत्कार ने मुझे कविता की ओर आकर्षित किया और शुरू मे गुणा-भाग की तरह कविता लिखी—गिन गिन कर।" इसके बाद भी लिखते रहे, इसे सोहबत का असर बताते हैं "जो कि अब दूर होता जा रहा है।"

"शौक दो ही चीजों का—सिनेमा और सिगरेट। आजकल राजनीति का अध्ययन अच्छा लगता है। मार्क्सवाद को आज के समाज के लिए रामबाण मानता हूँ। कम्यूनिस्ट हूँ।"]

—००ऽ०ऽ००—

वक्तव्य

स्कूल की प्रारम्भिक कक्षाओं मे दूसरों के पद्यों को कठस्थ कर उनकी आवृत्ति करने ने ही सम्भवत मुझे कविता की ओर प्रेरित किया, और क्योंकि 'तुक' के कारण कठस्थ करने मे सुविधा होती थी, इसलिये अनजाने में ही तुक को मैं महत्वपूर्ण मानने लग गया। फल यह हुआ कि कुछ ही दिनो मे मैं तुकबन्दी करने लग गया, जिनमे जो न्यूनाधिक भाव होते थे वे सब उधार-खाते, विन्यास मेरा अपना। और गलत तुक या कमजोर तुक की कविता को रद्दी कविता मानने की मेरी आदत तो बहुत दिनों तक बनी रही।

स्कूल की मीटिंगों मे, और उत्सव-आयोजनादि मे मुझे पद्य-आवृत्ति का जो यह कार्य करना पड़ा, उसी ने मुझ से कविता लिखाई। "यह मेरी लिखी नहीं है" कहते-कहते मैं इतना तग हो गया कि मेरे अचेतन ने निश्चय ही अपने को इस गुण-गौरव से विभूषित करना चाहा। इसीलिये मैंने प्रारम्भ मे केवल सामयिक अवसर, त्यौहार-पर्व, आदि के उपयुक्त कविताएँ ही लिखीं। और दूसरों की प्रशसा का लोभ ही मेरे काव्य की आदि-प्रेरणा थी। तब कविता लिखने में जो तकलीफ मुझे होती थी उसको कुछ-कुछ इम्तहान में प्रश्नोत्तर लिखने की तकलीफ की तरह मैं लेता या जिसका फल मीठा और आनन्ददायक होता था। मेरी शुरू की इन रचनाओं मे, जिन्हे आज पढने पर हँसी आती है, मैथिलीशरण गुप्त की उपदेशात्मक शैली का प्रभाव बहुत है। क्योंकि एक ओर उसका अनुकरण जितना आसान है, दूसरी ओर श्रोताओं को अनायास समझना भी उतना ही।

इस प्रकार अभ्यास करते-करते तुक और छन्दों पर वश प्राप्त कर लेने के बाद जब कॉलेज में मैं पहुँचा, तभी धीरे-धीरे मेरी कविताओं मे अपनी बात आने लगी। दूसरों की चार कविताएँ पढ लेने के बाद अपनी एक लिख लेने की रीति को छोड़ जब मैं उन बातों को कहने की क्षमता और साहस पा सका जिन्हे मैं स्वय अनुभव करता था। और फिर एक ओर अपनी अति-भावुक प्रकृति के कारण, दूसरी ओर हिन्दी साहित्य से विशेष मोह के कारण, तीसरी ओर कवि होने की अपनी विशेषता के गौरव और दम्भ के कारण, और चौथी ओर कविता में एक अजीब शान्ति पाने के कारण मैंने काफी ही कविताएँ लिखीं, जिनमे से अधिकाश लिखने के लिए ही लिखी गई थीं।

और आज जब मेरा काव्य-लेखन काफी कम हो गया है, और मैं "कला कला के लिए" की प्रवचना के मूल कारण को समझ पाया हूँ, साथ ही उसके उचित उपयोग को भी, तब यह बात स्वीकार किये बिना मैं नहीं रह सकता कि मेरी ये कविताएँ मेरे लिये केवल एक पलायन ही नहीं, वरन् एक स्वप्नलोक भी थीं जहाँ मैंने अपनी समस्याओं से भाग कर केवल शरण ही नहीं ली, वरन् साथ ही अ-सामाजिक नुकीले व्यक्तित्व द्वारा उत्पन्न अपनी असम्भव इच्छाओं की पूर्ति भी देखी। इसीलिए मुझे अपनी कविता पर इतनी मोह-ममता रही, और इसीलिए मैं उनको अपनी सम्पत्ति मानता रहा।

आज की सामाजिक व्यवस्था और उसकी आधार-गत आर्थिक व्यवस्था एक मध्य-वर्ग के नवयुवक को अप्राकृतिक रूप से महत्वाकाक्षी और स्वप्नाभिलाषी

बना देती है क्योंकि एक ओर तो वह अपने स्कूल और कॉलेज मे पढाई जाने वाली पाठ्य पुस्तकों से अपने आप को महान् व्यक्ति (individual) बनाने की सोचता है, और दूसरी ओर ऊपर के वर्ग की ऐश्वर्य-शालीनता उसे सहज ही आकर्षित करती है। और जो अति-भावुक होता है वह अभिलाषाओं का शिकार हो कर सौन्दर्य का भूखा, कल्पना के लड्डू खानेवाला रंगीन कवि हुए बिना नहीं रह सकता।

अपने अनुभव से मैं, इसीलिए, यह बात जोर दे कर कहना चाहता हूँ कि कम से कम मुझे मेरी कविता ने भावों का उत्थान (Sublimation) नहीं दिया, न उसने मेरे हृदय का परिष्कार किया। दूषित समाज ने मुझे जो असामाजिक कमजोरियाँ और गलित स्वार्थ दान मे दिए मेरी कविता ने उन्हीं की पीठ ठोकी। ससार को सच्चा मान कर उसमे कर्म करना क्योंकि वास्तविक क्षमता और सामर्थ्य की अपेक्षा रखता है, इसीलिए मैंने कविताएँ लिख कर मानो स्वप्न मे अपनी अभिलाषाएँ पूरी कीं और ससार को मिथ्या सिद्ध किया। कर्म से पलायन ही मेरी कविताओं का स्पन्दन रहा। व्यक्तित्व के वे सारे डक जो दूसरों को काटने दौड़ते हैं, समाज में रहने-सहने से टूट जाते हैं, लेकिन इस पलायन का फल यह हुआ कि मैंने उन्ही के विप को अमृत समझा। आज का हिन्दी कवि इतना दभी, अकर्मण्य और अ-सामाजिक व्यक्ति क्यो होता है यह मुझे अच्छी तरह मालूम हो गया है।

और इसीलिए, यदि कविता का उद्देश्य व्यक्ति की इकाई और समाज की व्यवस्था के बीच के सम्बन्ध को स्वर देना और उसको शुभ बनाने मे सहायता करना है तो हिन्दी के कवि को समाज से नाराज हो कर भागने की बजाय समाज की उस शोषण-सत्ता से लड़ना होगा जिसने उसको कोरा स्वप्नाभिलापी और कल्पना-विलासी बना छोड़ा है, और जिसने उसको अपनी कविता को ही एकमात्र सम्पत्ति मानने के भ्रम मे डाला है। इस सघर्ष के पथ पर के अपने अनुभवों को यदि वह पद्य-बद्ध करेगा तो पायेगा कि उसकी कविता केवल मर्म-स्पर्शी और सशक्त ही नही वरन् साथ ही उसको अधिक ज्ञानी और सामाजिक बनानेवाली भी है। तब कविता उसके हाथ मे एक मूल्यवान अस्त्र की भाँति होगी, आज की तरह अपार्थिव अस्तित्वहीन फूलों की सेज नहीं।

—भारत भूषण अग्रवाल

---

१ अपने कवि से

—१—

कितनी सकुचित, जीर्ण, श्रद्धा हो गई आज कवि की भाषा!
कितने प्रत्यावर्तन जीवन मे चचल लहरों के समान
आये, वह गये, काल बुद्बुद-सा उठा, मिटा, पर परपरा—
अभिभुक्त अभी परिवर्तित हुई न परिभाषा
रूप की, व्यक्ति की। नव-विचार, नव-ज्ञान-रीति,
नित-नित नवीन जीवन के स्वर, पर प्राचीना
अब भी है वाणी की वीणा। कुछ अनुभव करते प्राण
किन्तु अभिव्यक्ति अन्य ही कुछ देती है उसे गिरा।
इस भाँति आज कविके अतिशयउत्कट विचार, सुख दुख-प्रतीति
रह जाते हैं कल्पना-मात्र। सब वन्धन से दुष्कर वन्धन
है शब्दोंका, जो नही निकट आने देता कविएव उसकीआत्मपूर्ति
को जग के भौतिक सत्यों के, छाया के सदृश अर्थहीना
करता है उसकी वाणीको। कैसी विडम्बना! स्थिर साधन
यद्यपि चिर-गति-मय साध्य। देवता बदल गये, बदली न मूर्ति!

—२—

कवि! तोड़ो अपना शब्द-जाल, जो आज खोखला, शून्यहुआ
यह है अपने पुरखों की वैभव-भोग-मयी कलुषित वाणी
मदमत्त, विलासिनि! त्याग इसे—बनना है तुझको तो अगुआ
युग का, युगकी भूखी, कमजोर हड्डियोंका, जिनका पानी
है उठा खौल, घिर रहा विश्व पर घटाटोप बादल बन कर।
बज नहीं सकेगा तेरी इस मधु की वशी पर इनका स्वर
गर्जना-भरा। सड़ गई आज यह गिरा अचल, घिस गई व्यक्ति
छवि-कनक-प्रवालों के जालों मे खो बैठी यह आत्म-शक्ति
युग के मानव के सुख-दुख, आशा-प्रत्याशा का प्रतिनिधित्व
इसके कठ से नहीं सम्भव। यह सदा स्वर्ग-वासिनी रही
अप्सरा बनी। जाने दे इसको स्वर्ग, खोज ले आज मही
अपनी मिट्टी के पुतलों के शब्दो मे ही अपना कवित्व,
हमको न जरूरत आज देव-वाणी की, हम खुद टालेंगे
जीवन की भट्ठी मे भाषा, जी-चाहा रूप बना लेंगे।

—३—

इस छायामय भाषा ने कर डाला असत्य, अपदार्थ, हीन,
तेरे लघु-जीवन का था जो एकान्त सत्य—तेरे विचार
मे केवल जो था सार—वही तेरा प्रेयसि के लिए प्यार।
तू भूल गया, अज्ञान ! रूप है मास, रक्त, मृत्तिकाधीन
शब्दाडम्बर-चक्र मे भ्रान्त। अप्सरा बना डाली तूने
षोड़श-वर्षीया रूपवती वह पढी-लिखी लड़की। पागल !
तू सुनता रहा मधुर नूपुर-ध्वनि यद्यपि बजती थी चप्पल।
तू सोचा किया 'भाव-ग्राचक है तत्त्व—शून्य, जिसको छूने
की भी चेष्टा है व्यर्थ। दूर यों भाग गया तू जीवन से
तू सदा सोचता रहा . "मुक्त हो जाऊँ जग के बन्धन से
उड़ कर दिगन्त के पार"। सृष्टि को पाया तूने क्षणभगुर
निज दिव्य-दृष्टि से। रे! तेरी यह भाषा तो है मात्र-मुकुर,
उस दर्शन का जिसने देखा बस आसमान थोथा-नीला,
नश्वरतासे डर कर जिसने देखी न प्रकृति चिर-गति-शीला।

२ जीवन-धारा

सघन बर्फ की कड़ी पर्त-सी
एक-एक कर अमित रूढियाँ
सदियों से जमती जाती हैं
तह पर तह
मानव-जीवन पर।
तह पर तह—
ये आज ठोस दीवार बनीं
हैं रोक रही जीवन की गति
मन की उन्नति।
अवरुद्ध आज जीवन-धारा—
युग-युग से प्रचलित भय-निर्मित
इन अमित रूढियों की कारा ने
बाँध लिया मानव का मन,
जग का जीवन।
आगे बढने में विफल, व्यर्थ
असमर्थ
आज जग-जीवन की सरिता का जल
हो कर बेकल
है फोड-फोड निकला बाहर
दोनों कूलों के इधर-उधर
रसमय वसुधा के अचल को
करके दलदल।

अवरुद्ध आज जीवन-प्रवाह।
जड़ता की जजीरों मे जकड़ा भीत हृदय
हिम-शीत मृत्यु के क्षुण्ण-स्पर्श से
आज बना निर्जीव,
न उसमें शक्ति कि कर भी ले वह कुछ चीत्कार-आह !
सब ओर आज गतिहीन शान्ति, निष्प्राण मौन;
अस्वस्थ धरा, अवरुद्ध वायु, निस्तेज गगन
गँदला, अशुद्ध जगका जीवन।
जगकी रग-रगमे जमा हुआ हेमन्त-शीत,
पतझार-पीत !

पर भय क्या है !—अब देर नहीं
हम अग्नि-शिखा प्रज्वलित करेंगे
जिसके सम्मुख एक बार ही
गल-गल पिघल जायगे सारे हिमके प्रस्तर।
एक बार फिर
जीवन पायेगा अपनी उन्मुक्त धार, निर्बन्ध प्रगति
टूटेगे गतिके पथमे आये रूढिग्रस्त मानवके मनके भाव-बन्ध
फिरसे समस्त जगमे छायेगा नव-प्रकाश,
नव-नवोल्लास, नव-गीत-छन्द।
फिर एक बार,
हिमकी काराको तोड़-फोड़
अक्षय, प्रशस्त, जीवन-धारा
वसुधाकी चौड़ी छाती पर
सत्वर,
अमन्द,
बह पायेगी मग सरसाती
कल-कल गाती।

फिर भय क्या है !—अब देर नहीं
हम लाते हैं वह वह्नि-तेज
जिसके स्फुलिंगकी ज्योति-विन्दुमे
मिट जायेगा हेमन्त शीत
मिट जायेगी इस कड़वी जड़ताकी सड़ांद
हम देख रहे टकटकी बांध—

उग रहा पूर्वमे नवालोक, अभिनव बसन्त ।
अब देर नही—
विकसित होकर जगका शतदल
खोलेगा अपनी मुदी आख ।
जागृतिकी किरणोसे ज्योतित
होगा अशेष जगका प्रागण ;
सौरभसे पूरित दिग्-दिगन्त ।

३ सीमाएँ : आत्म-स्वीकृति

है श्रान्त तन, है क्लान्त मन, मैं आज हूँ निष्प्राण ।
आगे बिछी है राह
जानता हूँ यही है वह पथ कि जिसपर मिल सकेगी मुक्ति
मेरा और सब की मुक्ति ,
जानता हूँ · यही है वह पथ कि जिस तक पहुँचने की
थी हृदय मे चाह
जीमे था अतुल उत्साह ।
कड़ा करके जी, कमर कम, चल पड़ा था उस दिवस अम्लान
वचितों के स्वत्व-सगर में चढाने एक निज का दान
सोचता था : अब हुआ जीवन सफल, अब मिट गया अधियार
छूटे अब हमारे वध
तनके और मनके वध
सोचता था क्षुद्र मनके स्वार्थ पर ही था विगत आधार
मैं था मूढ, मै था अन्ध ।
यो तोड़ नाते, छोड़ चिन्ता, एक निश्चयकी सभाले टेक
मैं चला बनने अनेको सैनिकोमे एक ।

तब नहीं मैं जान पाया था—कठिन है राह यह कितनी
तब नहीं मैं जान पाया था—क्षणिक है स्फूर्ति यह इतनी !
आज है अचरज यही अत्यन्त
उस महा आरम्भका हा ! क्षुद्र ऐसा अन्त !
दूर है, मजिल अभी मेरी बड़ी ही दूर
किन्तु मैं तो बीच मे ही आज थककर चूर
गिर पड़ा हू राह पर ।
जा रहे हैं साथके वर-वीर कसे-कमर
किन्तु मैं अपने निजी कुछ मोहमे, कुछ मूर्ख आशामे
इस अपूर्ण, अशक्त मनकी स्वाभिलाषामे
अटक करके रह गया हू स्वय अपने जाल मे
वर्गवादी हृदयके कटु व्यूह अति विकरालमे

आज पहली बार मुझको मिल सका है ज्ञान मनकी परिधिका
असहाय सीमाबद्ध अपनी शक्तिका ।
शक्ति · जो यों चाहती है फैल जाये विश्व-भरकी सवनाशी
अपहरणकी नीव पर
किंतु सीमामें वधी, आकुल-घिरी, पथ-हारिणी बनकर
फूट पाती है नहीं
ढू ढ पाती है नहीं निज राह ।

मानता हू—सभी सीमायें सदा मन-जात
किंतु मन क्या मुक्त है, उस पर नहीं क्या अपर बधन ?
जन्म जिस परिवारमे मैंने लिया है,
जिस तरहकी परिस्थितियोंसे यहां तक आ सकी है
जिदगीकी सड़क मेरी
घूमती-फिरती, अनेको मोड़पर से काटती चक्कर
उन
परिस्थितियोंका पिता है वर्ग और समाज पूंजीका,
और, मेरे विकल मनकी सभी सीमाये
वहींसे नि.सृत हुई हैं ।

४ मसूरीके प्रति

(१)

माना · असत्य, कल्पना-मात्र परलोक , किन्तु री मसूरी !
तू सत्य-स्वर्ग इस वसुधा पर । तेरे अचलकी छाह तले
पलते हैं देव-तुल्य नरगण । विमलों-की-पुरी, अये विमले !
कब लाघ सका यह पापी, काला नर-समाज तेरी दरी ?
तेरा पथ है अत्यन्त अगम । विरले ही जन जा पाते हैं
स्वर्णकी सीढियो पर चढकर । वह देख उधर, वे आते हैं
दो-चार कुली—पृथ्वीकी हत-भागिनि निरीह सन्तान—
अवल कन्धोपर भार वहन करते । ये ही हैं वे सोपान
सचर जिन पर पग धर, वैभवके मदमे झूम, चढे
तुझ तक आया करते हैं तेरे वरद पुत्र, तव-वन्दनार्थ
तल-प्रान्तोंकी उत्तप्त यातनासे बचकर। कैसे वे चादीके टुकड़े!
जो दुखको अपने परम-मन्त्रसे सुखमे करते परिवर्तित, -
जिनका अभाव इन मर्त्य लोकके वासी दीनोको वशार्त
रखता है रौरवकी लू मे, जीवन-भर ज्वालामें पीड़ित ।

(२)

मैंने अपनी आखों देखे हैं वे बादल जो चरणोमे
आनत, प्रतिपल शीतल करते रहते हैं तेरे प्रागणको
जब झुलस रहा होता है निर्धन जग प्रलयकर लपटोंमे,
जो तलके नद-सागरके जलके कण-कणका शोषण करके
तुझ पटरानीका करते हैं अभिषेक ।
रम्य-रस-वसना उस रमणी गणको
मैंने देखा है, जो गाती रहती हैं कल-कल निर्झरके
स्वरमे अपना स्वर डुबा, हुलास-विलासोंमे भर-भर मस्ती,
जब चीखा करती है क्षुधार्त नीचे मैदानोंकी बस्ती ।
हा, मैंने अपनी आंखों देखा है विभेद यह, यह विरोध
जो साधारण घटना है अपनी पूंजीवाद-प्रणालीकी,
जो है तेरा आधार-स्तम्भ, जिसका विनाश दो दिन ही की
है बात, यातनाने जिसकी विश्वको दिया है नया बोध ।
आजके मदिर सुखमें, रगीनीमे भूली ओ री अलका !
कुछ तुझे ध्यान भी है कलका, शोषित दलके उठते बलका ?

५ अहिंसा

[व्यग्य]

खाना खाकर कमरे में बिस्तर पर लेटा
सोच रहा था मैं मन ही मन 'हिटलर बेटा
बड़ा मूर्ख है, जो लड़ता है तुच्छ-क्षुद्र मिट्टी के कारण
क्षणभगुर ही तो है रे ! यह सब वैभव- धन !
अन्त लगेगा हाथ न कुछ, दो दिन का मेला ।
लिखूँ एक खत, हो जा गाधीजी का चेला
वे तुझको बतलायेंगे आत्मा की सत्ता
होगी प्रकट अहिसा की तब पूर्ण महत्ता ।
कुछ भी तो है नही धरा दुनिया के अन्दर ।'
+ + +
छत पर से पत्नी चिल्लाई . "दौड़ो बन्दर !"

६ फूटा प्रभात

फूटा प्रभात, फूटा विहान,
वह चले रश्मि के प्राण, विहग के गान, मधुर निर्झर के स्वर
झर-झर, झर-झर ।

प्राची का यह अरुणाभ क्षितिज,
मानो अम्बर की सरसी मे
फूला कोई रक्तिम गुलाब, रक्तिम सरसिज ।
धीरे-धीरे,
लो, फैल चली आलोक रेख
धुल गया तिमिर, बह गई निशा ,
चहुँ ओर देख,
धुल रही विभा, विमलाभ कान्ति ।
अब दिशा-दिशा
सस्मित,
विस्मित,
खुल गए द्वार, हँस रही उषा ।

खुल गए द्वार, दृग, खुले कण्ठ,
खुल गए मुकुल ।
शतदल के शीतल कोषों से निकला मधुकर गुजार लिए-
खुल गए बन्ध, छवि के बन्धन ।

जागो जगती के सुप्त बाल ।
पलकों की पखुरियाँ खोलो, खोलो मधुकर के अलस बन्ध
दृगभर—
समेट तो लो यह श्री, यह कान्ति
बही आती दिगन्त से यह छवि की सरिता अमन्द
झर-झर, झर-झर ।

फूटा प्रभात, फूटा विहान,
छूटे दिनकर के शर ज्यों छवि के वह्नि-बाण
(केशर-फूलों के प्रखर बाण)
आलोकित जिनसे धरा
प्रस्फुटित पुष्पों के प्रज्ज्वलित दीप,
लौ-भरे सीप ।

फूटीं किरणे ज्यों वह्नि-बाण, ज्यों ज्योति-शल्य,
तरु-वन मे जिनसे लगी आग ।
लहरों के गीले गाल, चमकते ज्यों प्रवाल,
अनुराग-लाल ।

७ प्रत्यावर्तन

सचमुच मेरे मन में है यह विस्मय अपार
किस भांति लौट कर आ जाती हो बार-बार
तुम मेरे जीवन में, ओ गीतों की प्रतिमे !
मैं खो-खोकर भी पा जाता हूं प्रति दिशि में
तेरे चरणों की चपल चाप । जब-जब कठोर
होने का निश्चय कर मैं बरबस मुसकाकर
तुमसे कहता हूं "आज विदा आखिरी प्राण !"
तुम व्यथाशून्य अपने नयनों की सजल कोर
से जैसे लिख देती हो अपना प्यार अमर,
तुम जैसे कह देती हो . 'ओ ! मेरे अजान !!
यह सब किससे, जिसका है तेरे सपनों पर
चिर आधिपत्य ?' मैं आज समझ पाया हूं यह
जिस सहज भाव से अनायास ही तुम प्रत्यह
मुझको करने देती हो अपना मुक्तियास
उसमे रहता है निहित तुम्हारा अविश्वास
मेरी क्षमता पर, मेरे प्राणों के बल पर ।

है आज भरा मेरे मन में सचमुच विस्मय ।
क्या तेरा सम्मोहन है इतना ही अटूट ?
क्या मेरे जी में है इतना ही प्रबल प्रणय ?
क्या सचमुच ही तेरी आभा के क्षुद्र-बिन्दु
में बन्दी है मधु का समुद्र, स्नेह का सिन्धु
जो मेरे अनजाने में ही प्राण में फूट
लाता है मुझको बहा-बहा तेरे तट तक ?
मैं विस्मित हूं' आकर्षण का वह लघु अकुर
किस भांति अचानक आज बन गया अमरलता
आच्छादित करके प्राणों को ? बतलाओ मेरी निर्बलता !
किस पावक से जल उठते हैं वे आर्द्र-पलक
जब डूबा रहता है सुधि-तम में अन्त पुर ?
किस दैवयोग के मधु-विधान-सी तुम पथ में
चौंका देती हो मुझको फिर-फिर, दृग भर-भर ?
री ! बोलो, किस स्वर्गीय गान के मधुमय स्वर
ने गूंथ लिया है अनायास लय बना हमें ?

८

छलक कर आई न पलकों पर विगत पहचान
मुसकरा पाया न ओठों पर प्रणय का गान
ज्यों जुड़ीं आंखें मुड़ीं तुम, चल पड़ा मैं मूक
इस मिलन से और भी पीड़ित हुए ये प्राण ।

९

पाया सनेह, पा सकी न पर तुम अभी विदा-रीति का ज्ञान
पगली ! बिछोह की बेला में बिनमांगे ही प्रीति का दान
दो मुझे । कहो इस अन्तिम पल में एक बार 'प्रियतम'। धीमे
पूछो 'कब लौटोगे, बसन्त में ? वर्षा में ? शारद-ग्रीष्मे ?
शीत की शर्वरी में ?' सरले ! मत रह जाओ नतमुख-उदास
लाजसे दबी । कल जब यह पल होगा अतीत, तब अनायास
मुखरित होगी यह नीरवता, बन व्यथा, वियोगी प्राणों में
तब तुम सोचोगी बार-बार 'क्यों आंसू में, मुस्कानों में
दुख-सुख की उस अद्वितीय घड़ी को किया न मैंने अमर ?'
प्रिये !
यह कसक तुम्हे कलपायेगी 'क्यों मैंने प्रिय को अश्रु-पिये
नयनों से नहला दिया न, सचित किया न क्यों कुछ आश्वासन
इस विरह-काल के लिये हाय ! भर आलिंगन, पाकर चुम्बन !'

१० चलते-चलते

मैं चाह रहा हूं, गाऊं केवल एक गान, आखिरी समय
पर, जी में गीतों की भीड़ लगी
मैं चाह रहा हूं, बस, बुझ जाऐं यहीं प्राण, रुक जाय हृदय
पर, सासों में तेरी प्रीति जगी
इसलिए, मौन ही जाता हूं, स्वीकार करो यह विदा
आज आखिरी बार ,
मत समझो मेरी नीरवता को व्यथा-जात
या मेरा निज पर अनाचार ।
मैं आज बिछुड़कर भी सचमुच ही सुखी हुआ मेरी रानी !
इतना विश्वास करो मुझपर
मैं सुखी हूं कि तुमने अपनी नारी-जन-सुलभ चातुरी से
बिखरा दी मेरी नादानी
पानी-पानी करके सत्वर
मैं सुखी हूं कि इस विदा-समय भी नहीं नयन गीले तेरे
मैं सुखी हूं कि तुमने न चँटाये कभी अलभ्य स्वप्न मेरे
मैं सुखी हूं कि कर सकीं मुझे तुम निर्वासित यों अनायास
मैं सुखी हूं कि मेरा प्रमाद बन सका नहीं तेरा विलास

मैं सुखी हू कि—पर, रहने दो, तुम बस इतना ही जानो
मैं हू आज सुखी
अतिम विछोह, दो विदा आज आखिरी बार ओ इन्दुमुखी !

११

प्रात की प्रत्यूष बेला—
रात के घनघोर, काले क्षणों के उपरान्त की यह शान्त बेला
अभी मीठी नींद की सुधि शेष है मेरे दृगों मे
और सपनों की मधुरिमा से रँगा है फूल-सा मन
सहज, हलका ।
कवि-प्रिया का सलज अचल ज्यों बिछा है प्राण पर अबभी
दूर जिसके देश मे अटके हुए हैं आज भी जो भाव मेरे
तिमिर के मोहन-असयम मे लगाते हैं विकल फेरे
जिस प्रतनु के अलक के चहुओर
जिस सलोनी कामिनी के पलक मे बस सुला देते हैं
विसुध तन्द्रा
सुला देते हैं पियासी पिया-से गुँथ, एक होने की
पिया के साथ सोने की
सुनहली चाह ।
वही कविता-कल्पना चिर-साध जीवन की
वही अचल परस जिसका वरद पारस-सा
और वे ही मधु-भरे लघु-भाव
जी रहे हैं ज्यों अभी मेरी अतार्किक दृष्टि मे ।
सृष्टि मे
इसी से तो अभी कोलाहल नहीं रव-मान
अभी जैसे कर्म का आह्वान
अरुण की नवजात किरणें दे न पाई हो जगत् को ।

क्षणिक, मीठी, अटपटी यह सुखद बेला
रात के उन दीर्घ, कम्पित, भय-भरे ऊबे पलों से
है नितान्त विभिन्न ।

१२ जागते रहो !

डूबता दिन, भीगती-सी शाम
बन्द कर दो काम,
लो विश्राम ।

यह तिमिरकी शाल
ओढ लो वसुधे ! न सिकुड़े शीतसे यह लाल,
जगका बाल ।

वलयकी खनकार,
दीप बालो री सुहागिनि ! जग उठे गृह-द्वार
बन्दनवार ।

किन्तु साथी ! देख,
हम न सोयेंगे, हमारा कार्य है अवशिष्ट
अपनी प्रगतिका अब भी अधूरा लेख ।
जागरण, चिर जागरण ही है हमारा इष्ट !

लो, क्षितिजके पास—
वह उठा तारा, अरे ! वह लाल तारा, नयनका तारा हमार
सर्वहाराका सहारा
विजयका विश्वास ।

१३ पथ-हीन

कौन-सा पथ है ?
मार्ग मे आकुल-अधीरातुर बटोही यों पुकारा —
'कौन-सा पथ है ?'

"महाजन जिस ओर जाएँ"—शास्त्र हुङ्कारा
"अन्तरात्मा ले चले जिस ओर"—बोला न्याय-पण्डित
"साथ आओ सर्व साधारण जनों के"—क्रान्ति-वाणी

पर महाजन-मार्ग-गमनोचित न सम्बल है, न रथ है,
अन्तरात्मा अनिश्चय-सशय-ग्रसित,
क्रान्ति-गति-अनुसरण-योग्या है न पद-सामर्थ्य

कौन-सा पथ है ?
मार्ग में आकुल-अधीरातुर बटोही यों पुकारा —
'कौन-सा पथ है ?'

गिरिजाकुमार माथुर

[माथुर, गिरिजाकुमार, जन्म १९१८ में मध्यप्रान्तके एक कस्बे में हुआ। लखनऊ विश्व विद्यालय से अग्रेजी साहित्य मे एम० ए० तथा एल० एल० बी० पास किया। कुछ समय तक वकालत की, उसके बाद नयी दिल्ली में सक्रेटेरियेट मे काम किया, अब ऑल इण्डिया रेडियो में हैं।

कविता के अतिरिक्त 'एकांकी नाटक, आलोचना, ओपेरा तथा शास्त्रीय विषयों' पर लिखते रहते हैं। अन्य कलाओं में सगीत का विशेष अध्ययन किया है। 'मन्दार' नाम का एक कविता सग्रह प्रकाशित हो चुका है]

वक्तव्य

विषय और टेकनीक—कविता में विषय से अधिक टेकनीक पर ध्यान दिया है। विषय की मौलिकता का पक्षपाती होते हुए भी मेरा विश्वास है कि टेकनीक के अभाव में कविता अधूरी रह जाती है। इसी कारण चित्र को अधिक स्पष्ट करने के लिए मैं वातावरण के रग उसमे भरता रहा हू। कहीं कहीं केवल वातावरण के चित्रण से ही विषय इगित किया है। जैसे 'कुतुब के खडहर' अथवा 'रुक कर जाती हुई रात' नामक कविताओ में केवल वहा का वातावरण चित्रित किया है। प्रत्येक कविता मे प्रथम उसकी आधार-भूमि निर्माण करना आवश्यक समझता हू, जैसे 'रेडियम की छाया', 'ववारकी दोपहरी' अथवा 'विजय-दशमी' नामक कविताओ के प्रथम वद हैं। वातावरण चित्रण के 'डिटेल' (Details) मे मैंने रगों का आधार विशेष रूप से रक्खा है, किंतु मैं चित्रको सदा हल्के रगो की छाँहो के आवरण मे लिपटा पसद करता हू। क्योंकि यथार्थ चित्र के सभी डिटेल मैं कला की दूरी से देखता रहा हू। मेरा यह विश्वास है कि अत्यधिक गहरे रगों का प्रयोग कला मे प्राचीनता (Mediæval Trait) का द्योतक है। क्लासीकल विषयोपर गभीर शैली (Grand Style) में लिखी कविताओं मे मैंने गहरे रग प्राचीनता लाने के लिए ही रक्खे हैं। यहा मैंने आधारभूमि विशालकाय करदी है और डिटेल कम। डिटेल मैंने रोमानी कविताओं मे ही अधिक भरे हैं। इसके अतिरिक्त मैं चित्रकला की तीन दूरिया (Three distances) चित्र के पूर्णत्व (Rounding-up) के लिए यत्र-तत्र लाया हू।

भाषा और व्यञ्जना—रोमानी कविताओ में मैंने छोटी और मीठी ध्वनिवाले बोलचाल के शब्द प्रयुक्त किए हैं। रोमानी कविताए मैं हिन्दुस्तानी भाषामें ही लिखना पसद करता हू। क्लासीकल कविताओंमें आर्य-गुण (Aryanism) लाने के लिए बड़ी लबी और गभीर ध्वनिवाले शब्द रक्खे हैं। अभिव्यञ्जनात्मक शब्द-विन्यास वातावरण के रूप-भाव के अनुकूल नए बनाए हैं—जैसे पतला-नभ, सिमटी किरन, आदिम छाँहें, घूमते स्वर आदि। क्योंकि मैं व्यजना को वातावरण के लघु चित्र अथवा प्रतीक का रूप दे देता हू। कहीं कही नए शब्द वातावरण का ध्वनि-भाव लेकर बनाए हैं, जैसे सूनसान, खडेरों आदि। उदाहरणार्थ 'सूनसान' शब्द लीजिए। 'शून्यता', 'सूनापन', 'सुनसान' सभी शब्द उस ध्वनिभाव के साथ निर्बल प्रतीत हुए। 'शून्य' में एक खोखलापन है, 'सूनापन' में दो स्वर-ध्वनियों की तेजी के बाद ही अत की दो व्यजन-ध्वनिया गति को समाप्त कर देती हैं, रोक देती हैं। 'सुनसान' सबसे निर्बल है, क्यों-कि इसमें केवल एक स्वर-ध्वनि है, और आरभ की दो व्यजन ध्वनियो से शब्द निर्गति है। 'सूनसान' में 'ऊ' की ध्वनि लबाई और दूरी व्यक्त करती है, 'आ' की ध्वनि विस्तार। बीच मे 'न' की ध्वनि सन-सनाहट और गहराई व्यक्त करती है। इस प्रकार 'सूनसान' शब्द का ध्वनि-भाव "आ ऊँ" हो जाता है जो गहरे सुनसान का यथार्थ रूप है। इसी प्रकार अन्य शब्द भी हैं। विस्तार के कारण प्रत्येक नए शब्द का अर्थ नहीं दे सकता।

छंद तथा ध्वनि-विधान—कविता मे मुक्त-छद ही पसद करता हू। मुक्तछद मे अधिकतर मैंने विरामात (End Stop) पक्तिया नही रक्खी। धारावाहिक (Run-on) ही रक्खी हैं। आगत पक्ति के आरभ में विगत पक्ति की ध्वनि सम सगीत उत्पन्न करने के लिए वर्तमान रहने दी है। क्योंकि बिना

इसके ध्वनि-सामंजस्य (Sympathatic-vivration) उत्पन्न नहीं हो पाता। इसी कारण मैं मुक्तछद मे सगीत प्रधान गीत सभव कर सका हूं जिन्हें गाते समय तुक की आवश्यकता प्रतीत ही नहीं होती। जैसे 'रेडियम की छाया', 'बसत-पचमी' आदि हैं।

मुक्तछद का मैंने सपूर्ण विधान रचा है। मुक्त-छद को दो भागों मे विभक्त किया है, वर्णिक और मात्रिक तथा इनके रूपातर। वर्णिक में मैं कवित्त के विरामो को उनके रूपातर सहित ले कर चला हू। यह आवश्यक नहीं रक्खा कि कवित्त के पूर्ण विरामों पर ही पक्ति समाप्त हो, किंतु अर्ध-विराम भी शुद्ध माने हैं, जब तक वे अनुच्चरित वर्ण (Unaccented Syllable) पर समाप्त न होकर उच्चरित (Accented) पर समाप्त होते हों। इस भांति कवित्त के विरामो को लेकर कितने ही प्रकार की मुक्तछद-पक्तिया निर्मित की है। सवैये के विरामों पर स्थित एक नए प्रकार का बहुत मगीतमय मुक्तछद लिखा है (आज हैं केसर रग रंगे)। एक कविता मे एक ही प्रकार का मुक्तछद प्रयुक्त होना आवश्यक समझता हू। यदि उच्चरित वर्ण-विन्यास (Syllable) से पक्ति आरभ हुई हो तो समस्त पक्तिया उच्चरित से ही प्रारंभ होनी चाहिए। विरामात पक्तियों मे यह नियम अनिवार्य कर दिया है। धारावाहिनी पक्तियों मे भी प्रथम पक्ति का अर्ध-विराम द्वितीय पक्ति में लेने का नियम रक्खा है। पक्तियों के विरामों की ध्वनि-मात्राए पूर्णतः सम एव शुद्ध होना अत्यत आवश्यक समझता हू। इन नियमों के विरुद्ध लिखा गया मुक्तछद अशुद्ध मानता हू।

ध्वनि-विधान मे मेरे प्रयोग मुख्यतय स्वर-ध्वनियों के हैं। व्यजन-ध्वनियों से उत्पादित सगीत को मैं कविता मे सगीत नहीं मानता। प्रत्युत रीति-कालीन रूढि समझता हू। छायावादी कवियों मे इसी कारण मैं कोई सगीत नहीं देखता क्योंकि उनका सगीत व्यजन-ध्वनियों से निर्मित है। और व्यजन ध्वनियों का सगीत, बाह्य, अस्थाई एव मृत है। वह आकार का सगीत है, शब्द की आत्मा का सगीत नही। शब्द की आत्मा स्वर-ध्वनि है इसी कारण उसपर अवलबित सगीत आतरिक, गभीर और स्थाई है। वह आकाश-तत्व का सगीत है। वातावरण-निर्माण में मैंने इसी की सबसे अधिक सहायता ली है। मुक्तछद के अन्तर्सगीत मे इन्हीं ध्वनियों की गूँजे बुनी है। इसी नियम को लेकर मैंने स्वर-ध्वनियो का मूल्याकन किया है। मैंने छहो स्वरो के सपूर्ण प्रभावों को लेकर उनका निश्चित रूप एव आकार निर्धारित किया है। 'आ' ध्वनि का रूप है, विस्तार, 'इ' ध्वनि का रूप है आनत, ऊचाई, 'ऊ' ध्वनि मे दूरी, 'ए' ध्वनि में ऊर्ध्वगति, 'ओ' ध्वनि मे वस्तु का "व्योम" तथा भीम-प्रवाह, और 'उ' में गहराई और गाभीर्य है। इस मूल्याकन के बल पर मैंने विभिन्न वातावरण निर्माण किए है। जहां जिस वस्तु का इगित करना होता है वहा उस ध्वनि का उतना ही प्रयोग है। इस प्रकार न केवल वर्णन से ही दृश्य स्पष्ट किया है किंतु ध्वनियों से भी उसका चित्र खींचा है। इन स्वरों की शक्ति, स्वरूप और रग तथा उसका प्रभाव-गुण स्थापित किया है। प्रत्येक स्वर के स्वरूप पर कविताए लिखी हैं। क्योंकि मेरा विश्वास है कि स्वर-ध्वनियां आकाश-तत्व की विभिन्न रूपातर हैं।

—गिरिजाकुमार माथुर।

१ आज हैं केसर रंग रँगे वन

आज हैं केसर रग रँगे वन
रजित शाम भी फागुन की खिली पीली कली-सी
केसर के वसनो में छिपा तन
सोने की छाह-सा
बोलती आखो मे
पहिले वसत के फूल का रग है।
गोरे कपोलों पै हौले से आजाती
पहिले ही पहिले के
रगीन चुवन की सी ललाई।
आज हैं केसर रग रँगे —
गृह, द्वार, नगर, वन
जिनके विभिन्न रँगो मे है रँग गई
पूनो की चदन चादनी।

जीवन मे फिर लौटी मिठास है
गीत की आखिरी मीठी लकीर-सी
प्यार भी डूबेगा गोरी-सी बाहो मे
ओंठों मे, आखो में
फूलों मे डूबें ज्यों
फूल की रेशमी-रेशमी छाहे।
आज हैं केसर रग रँगे वन।

२ रुक कर जाती हुई रात

रुक कर जाती हुई रातका
अतिम छाहों-भरा प्रहर है
श्वेत धुएं से पतले नभ मे
दूर भावरे पडे हुए सोने-से तारे
जगी हुई भारी पलको से पहरा देते
नींद-भरी मदी बयार चलती है
वर्षा-भीगा नगर
भोर के सपने देख रहा है अब भी
लबे-लबे धुंधले राजपथों मे
निशिभर जली रोशनी की
कुछ थकी उदासी मडराती है।
पानी रँगे हुए बगलों के वातायन से
थकी हुई रगीनी मे डूबा प्रकाश अब भी दिखजाता
रेशम-पर्दों, सेजों, निद्राभरे बधनो की छाया-सा।

बुझी रात का अभी अखीरी पहर नही उतरा है
दूरी के रेखा-छांहों से पेड़ो ऊपर
ठडा-ठडा चाद ठिठक कर मदा होता
नभ की लबी साया दूरी तक पड़ती है।

३ चूड़ी का टुकड़ा—

आज अचानक सूनी-सी सन्ध्या मे
जब मैं योही मैले कपडे देख रहा था
किसी काम मे जी बहलाने
एक सिल्क के कुर्ते की सिलवट में लिपटा
गिरा रेशमी चूडी का छोटा-सा टुकड़ा
उन गोरी कलाइयों मे जो तुम पहिने थीं
रग-भरी उस मिलन-रात मे।
मैं वैसा का वैसा ही रह गया सोचता
पिछली बाते
दूज-कोर-से उस टुकड़े पर
तिरने लगीं तुम्हारी सब लज्जित तसवीरे
सेज सुनहली
कसे हुए बधन मे चूडी का झर जाना।
निकल गई सपने जैसी वे राते
याद दिलाने रहा सुहाग-भरा यह टुकड़ा।

४ रेडियम की छाया—

सूनी आधीरात
चाद-कटोरे की सिकुड़ी कोरो से
मद चादनी पीता लबा कुहरा
सिमट लिपट कर।

दूर-दूर के छाह-भरे सुनसान पथों मे
चलने की आहट ओले-सी जमी पड़ी थी
भूरे पेड़ो का कपन भी ठिठुर गया था
कभी-कभी बस

पतझर का सूखा पत्ता गिरकर उड़जाता
मरे स्वरों से खर-खर करता ।
प्रथम मिलन के उस ठडे कमरे मे
छत के वातायन से
नींद-भरी सर्दी-सी एक किरन भी
थककर लौट-लौट जाती थी
आलस-भरे अधेरे मे
दो काली आखों-सी चमकीली
एक रेडियम घड़ी सुप्त कोने मे चलती
सूनेपन के हल्के स्वर-सी ।
उन्ही रेडियम के अकों की लघु छाया पर
दो छाहो का वह चुपचाप मिलन था
उसी रेडियम की हल्की छाया मे
चुपके का वह रुका हुआ चुबन अकित था
कमरे की सारी छाहों के हल्के स्वर-सा
पड़ती थी जो एक दूसरे मे मिल गुथकर ।
सूनी-सी उस आधीरात ।

५ कुतुब के खंडहर—

सेमल की गरमीली हल्की रुई समान
जाड़ों की धूप खिली नीले आसमान मे
झाड़ी-झुरमुटों से उठे लबे मैदान मे ।
रूखे पतझार-भरे जगल के टीलों पर
कापकर चलती समीर हेमत की
लबी लहर-सी ।
दूरी के ठिठुरे-से भूरे-भूरे पेड़ों पर
ठडे बबूले बना धूल छाजाती थी—
रेतीले पैरों से धीरे ही दाबकर
काई से काले पड़े ध्वस राजमहलो को
पत्थर के ढेर बने मदिर-मजारो को
जिनसे अब रोज साझ कुहरा निकलता था
प्यासे सपनों की मडराती हुई छाह-सा ।
गूजता था सुनसान—
ऊजड़ खडेरो मे
गिरते थे पत्ते
वन-पछी नही बोलते थे
नाले की धार किनारे से लगी जाती थी ।

६ पानी भरे हुए बादल....

पानी-भरे हुए भारी बादल से डूबा आसमान है
ऊचे गुम्बद, मीनारों, शिखरों के ऊपर ।
निर्जन धूल-भरी राहो मे
विवश उदासी फैल रही है ,
कुचले हुए मरे मन-सा है मौन नगर भी,
मजदूरों का दूरी से रुकता स्वर आता
दोपहरी का सूनापन गहरा होता है
याद-भरे बिछुड़न मे खोए मेघ-मास मे ।
भीगे उत्तर से बादल हैं उठते आते
जिधर छोड़ आए हम अपने मनका मोती
कोसो की इस मेघ-भरी दूरी के आगे
एक विदाई की सध्या मे
छोड़ चांदनी-सी वे बाहे
आसू-रुकी मचलती आखे।

भारी-भारी बादल ऊपर नभ मे छाए
निर्जन राहो पर जिनकी उदास छाया है
दोपहरी का सूनापन भी गहरा होता
याद भरे बिछुड़न मे डूबे इन कमरों मे
खोई-खोई आखों-सी खिड़की के बाहर
रुकी हवा के एक अचानक झोंके के सँग
दूर देश को जाती रेल सुनाई पड़ती !

७ क्वांर की दोपहरी

क्वार की सूनी दुपहरी,
श्वेत गरमीले, रुए-से बादलों मे,
तेज सूरज निकलता फिर डूब जाता ।
घरों मे सुनसान आलस ऊघता है,
थकी राहे ठहर कर विश्राम करती ,
दूर सूनी गली के उस छोर पर से
नीम-नीचे खेलते कुछ बालकों की
मिली सी अवाज आती ।

रिक्त कमरे की उदासी बढ रही है,
दूर के आते स्वरों से ।

दूर होता जा रहा हूं मैं स्वय ही—
पास की दीवाल पर के चित्र सारे,
शून्य द्वारों पर पड़े रगीन पर्दे,
वायुकी सासों-भरी, एकात खिड़की,
वह अकेली सी घड़ी,
वह दीप ठडा
और रातो-जगा वह सूना पलँग भी
दूर होता जा रहा है दूर कितना।
लग सका है कुछ न अपना
जिदगी-भर दूर ही रहना पड़ा है,
प्यार के सारे जगत से।

थक रही है क्वार की सूनी दुपहरी,
श्वेत हल्के बादलों में सूर्य डूबा
नीम-नीचे बालकों का स्वर मिला-सा छारहा है
धूल पैरों से हवा मे उड़ रही है।
बालकों-सा खेलता मैं जिंदगी मे
किंतु साथी दूर पर बिछुड़ा हमारा!

८ भीगा दिन......

भीगा दिन पश्चिमी तटों में उतर चुका है,
बादल-ढकी रात आती है
धूल-भरी दीपक की लौ पर मदे पग धर।
गीली राहे धीरे-धीरे सूनी होतीं
जिन पर बोझल पहियों के लबे निशान हैं
माथे पर की सोच-भरी रेखाओं जैसे।
पानी-रँगी दिवालों पर सूने राही की छाया पड़ती
पैरो के धीमे स्वर मर जाते हैं
अनजानी उदास दूरी मे।

सील-भरी फुहार-डूबी चलती पुरवाई
बिछुड़न् की रातों को ठडी-ठडी करती
खोए-खोए लुटे हुए खाली कमरे मे
गूँज रही पिछले रगीन मिलन की यादे
नीद-भरे आलिगन में चूड़ी की खिसलन
मीठे अधरों की वे धीमी-धीमी बाते।

ओले सी ठडी बरसात अकेली जाती
दूर-दूर तक भीगी रात घनी होती है
पथ की म्लान लालटेनों पर
पानी की बूदे लम्बी लकीर बन चू चलती हैं
जिनके बोझल उजियाले के आस-पास
सिमट-सिमट कर सूनापन है गहरा पड़ता,
—दूर देश का आँसू-धुला उदास वह मुखड़ा—
याद-भरा मन खो जाता है
चलने की दूरी तक आती हुई थकी आहट में मिलकर।

९ एसोसिएशंस्

कुछ सुनसान दिनों को,
और चादनी से ठडी-ठडी रातो को,
पत्रो की दुनिया से भी हम दूर हुए थे,
आज तुम्हारा सूना सा सदेश मिला है,
प्यार दूर का।
मान-गर्व के दो दिन अभी बिताए मैंने,
गीतो के उस मेले मे।
मेल मुझे लेकर उड़ती जाती थी,
रग-भरे पानी-से चलते उन डिब्बो की एक कोच पर,
सनसन-सनसन वायु वेग से,
घनी वन्य नदियो से छन मे पार उतर कर,
पीछे छोड़ नगर-ग्रामो को
कितनी ही पर्वत-माला की घूमों मे से।
एक सीध मे बनी, खिड़कियो मे से होकर,
कमरों का विद्युत-प्रकाश बाहर पड़ता था,
तेजी से चलती लम्बी लकीर बन-बन कर,
सून-सून करते उन पीछे उड़ते मैदानो मे,
हल्के चाद-भरे जो अनजानी दूरी तक,
वन-फूलों की सोधी-सी सुगध मे डूबे।
लेकिन मैं जाने कितने पीछे चलता था,
एक बरस पहिले की इन ठडी आँखों मे—
इसी तरह का वह रगीन दूसरा दर्जा
वायु-वेग से चलता जाता।
जब दूरी तक फैले फैले,
वन, पर्वत, मैदान उतर कर,

लबी, लबी-सी तेजी से—'
तुम उस रेशम-सेज-कौच पर,
देख रही उड़ती पहाड़िया खिड़की में से
एक हाथ पर चिबुक टिकाए,
साथ-साथ ही,
वह पहिले पियार की यात्रा।
आज दूर हो,
प्राणो से, तन से पीड़ित हो—
मेरी सूनी-सी आखे हैं,
सूना-सा मेरा घर, आगन।
चहल-पहल है नगर बीच,
दूर तुम्हारे देश यही सब होता होगा—
यही धूप, उजली कुआर की यही धूप भी
पछी, वायु, यही नभ, बादल।
—सून-सून करते मैदानो मे से होकर,
मेल जायगी, निज लबी-लबी तेजी से
प्रतिदिन की ही भाति आज भी।

१० विजय दशमी

आसमान की आदिम छायाओं के नीचे,
दक्षिण का वह महासिंधु अब भी टकराता,
सेतुबध की श्यामल, बहती चट्टानों से।
आखो मे, वह अतरीप के मदिर की चोटी, उठती है,
जिस पर रोज साझ छा जाते,
युग-युग रजित, लाल, सुनहले, पीले बादल,
एक पुरातन तूफानी सी याद दिलाकर,
जब, अविलंब अग्नि शर-चाप उठाते ही मे,
नभ-चुंबी, काले पर्वत-सा ज्वार मिटा था।
सस्कृतियों पर सस्कृतियों के महल मिट गए,
लौह नींव पर खड़े हुए गढ, दुर्ग, मिनारे,
दृढ़ स्तभ आधार भग हो
गिरे, विभिन्न निशान, शास्तिके केतन डूबे।
महाकाल के भारी पावो से न मिट सके,
चित्रकूट, किष्किधा, नीलगिरी के जगल,
पचवटी की गुँथी हुई अलसाई छाँहें,
वाल्मीकि के मृत्यु जय स्वर ले अपने पर
सरयू, गोदावरी, नील कृष्णा की धारा।

प्रेत-भरे इस यत्रकाल मे,
आज कोटि युग की दूरी से यादे आती,
शभु-चाप से अविच्छिन्न इतिहास पुराने,
और वज्र-विद्युत से पूरित अग्नि-नयन वे
जिनमे भस्म हुए लका-से पाप हजारों।
अब भी विजय-मार्ग मे वह केतन दिखता है
लौट रहे उस मोर-विनिर्मित कुसुम-यानका,
लबे-लबे दुख-बियोग की अतिम-बेला।—
सीता के गोरे, काटो से भरे चरण वे,
अग्नि-परीक्षाए पग-पग की,—
घोर जगलो, नदियों से जब पार उतरकर,
उन बिछुडे नयनो का सुखमय मिलन हुआ था।
और चतुर्दश वर्षों पहिले का प्रभात वह,
सुमन-सेज जब छोड़ तीन सुकुमार मूर्तिया,
तर, मडित, वन-पथ पर चलीं, तपस्वी बनकर,
राग-रगीली दुनिया मे आते ही आते

आसमान की आदिम छायाओ के नीचे
सेतुबध से सिधु आज भी टकराता है।—
पदचिन्हो पर पदचिन्हो के अक बन गए
कितने स्वर, ध्वनिया, कोलाहल डूब गए हैं।
किंतु सृजन की और मरण की रेखाओं मे
चिर ज्वलन्त निष्कम्प एक लौ फिरती जाती,
धरती का तप जिस प्रकाश मे पूर्ण हुआ है।
देश, दिशाए, काल, लोक सीमा से आगे,
वह त्रिमूर्ति चलती जाती मन के फूलों पर,
अपने श्यामल गौर चरण से पावन करती
वर्षों, सदियों, युगों-युगों के इतिहासों को।

[A. I. R दिल्ली से ब्राडकास्ट]

११ अधूरा गीत

मैं शुरू हुआ मिटने की सीमा-रेखा पर,
रोने मे था आरभ किंतु गीतो मे मेरा अत हुआ।
मैं एक पूर्णता के पथ का कच्चा निशान,
अपनी अपूर्णता मे पूरन,
मैं एक अधूरी कथा

कला का मरण-गीत, रोने आया ।
मेरी मजबूरी तो देखो—
काली पीली आंधी चलती है गोल गोल,
धूसर बादल नीचे उतरे
जिनमे मुरझाए पत्तो की है धूल भरी,
मिट गए अचानक अनजाने सपने अमोल,—
बुझ गए दीप पड़कर पीले
जिनकी लौ गरम रखी अबतक ।
है अत हुआ जाता मेरा
इन अतहीन इतिहासो मे
जाने कैसी दूरी पर से
मुझपर लबी छाया पड़ती,
किसकी आधी आवाज भरी
मेरे बोझीले गिरते हुए उतारो मे ।
मैं अधिकारी ना-होनेवाली बातो का,
मैं अनजाना, मैं हू अपूर्ण ।

दूरी से, कितने देशों को इस दूरी से,
वह महाकाल के मदिर की चोटी दिखती
जिसपर छाया था एक साझ
दूरी की श्यामलता लपेटकर मेघदूत ,
वे सोने के सिहासन की गाती परिया,
नव रत्नों का सपना सुदर
जो मिटकर एक बार फिर से
था मिटा सीकरी के उन झीलो से अनुरजित महलो मे
ये सब मोती थे टूट गए
अब एक और तारा टूटा
लबी लकीर बन अलका से,
फिर समा गया
गगा की गोरज लहरों में ।

जीवन का वह रगीन चाँद
जिसके उजयाले बिना हुआ है जग निर्धन,
जो सुधा-भरा ही डूब गया
काली रेखाओं के आगे
विष की मीठी निद्रा के अतिम सागर मे ।
कमज़ोर सूत के ये डोरे
अनजानी दूरी तक ओझल होकर जाते,
नीली-सी लबी उँगली की
रेखा-छाया उलझी-उलझी-सी दिख जाती
ढीले लगते
पर बद नहीं होते खिचने ।
सुदर चीजें ही मिटती हैं सबसे पहिले,
यह फूल, चादनी, रूप, प्यार,
आसू के अनगिन ताजमहल,
रागो की ठहरी गूंज,
असभव सपनो की सुन्दर मिठास—
स्रष्टा तक मिटता कलाकार के मिटने से,
पर गीतो के इन पिरामिडो,
—इन धौलागिर, सुमेरुओं पर
मिट जाती स्वय मृत्यु आकर !

\+ \+ \+

दिख रही मुझे विन्ध्या की अमिट लकीर दूर
वे घने-घने चट्टान-भरे लबे जगल,
नर्वदा, बेतवा, क्षिप्रा की अविलब धार
जिनपर हेमत-कुहासे-सी छाई रहती
युग से युग तक,
अनजाने इतिहासों की वह अविराम याद ।
वन की श्यामलता की मिठास
अनजानेपन के रगो से ही रजित है,
ऐसी छाँहों मे पले हुए
ये चट्टानो के फूल
नहीं गल पाए गे, धुल पाए गे
निर्बल वर्षों के बोझीले गीले हिमसे ।
अब ये बसत
कितने सहस्र वर्षों की ममी बना आया
बेहिस, अवाक ।
ये शिशिर सरीखी बादल भरी हवा चलती,
रोमा की यादे टूट रही,
ये मुझे उड़ाती ले जाती वर्षों पीछे
जाड़ो की सध्या का वह अतिम प्रहर,
रात, सदली चादनी से गोरी गोरी होती
जब कालिदास की नगरी मे
उन गीतो की छाया में मैं भी बैठा था
पहिली भी अतिम बार वही—
जग ने जिसको मिटने पर ही है पहिचाना,
वह चित्र न मुझपर से उतरा,

उसको ही पूरा करने में
मुझको भी पूर्ण न होने का वरदान मिला ,
मैं चलता जाऊंगा इतिहासों के ऊपर
यद्यपि पाषाण हुआ जाता ।

१२ बुद्ध

आज लौटती आती है पदचाप युगों की,
सदियों पहिले का शिव-सुदर मूर्तिमान हो
चलता जाता है बोझीले इतिहासों पर
श्वेत हिमालय की लकीर-सा ।
प्रतिमाओं-से धुंधले बीते वर्ष आ रहे,
जिनमे डूबी दिखती
ध्यान-मग्न तसवीर, बोधि-तरु के नीचे की ।
जिसे समय का हिम न प्रलय तक गला सकेगा
देश-देश से अतहीन वह छाया लौटी,—
और लौटते आते है वे मठ, विहार सब,
कपिलवस्तु के भवनों की वह काचन माला
जब सागर, वन की सीमाए लाघ गए थे
कुटियों के सदेश प्यार के ।
महलों का जब स्वप्न अधूरा
पूर्ण हुआ था शीतल, मिट्टी के स्तूपों की छाया मे ।

वैभव की वे शिलालेख-सी यादे आती
एक चादनी-भरी रात उस राजनगर की,
रनिवासों की नगी बाहों-सी रगीनी
वह रेशमी मिठास मिलनके प्रथम दिनों की—
फीकी पड़ती गई अचानक ,
जाने कैसे मिटे नयन-डोरों के बधर्न
मोह-पाश रोमान्, प्यार के
गोपा के सोते मुख की तस्वीर सलौनी,
गौतम बनने के पहिले किस तरह मिटी थी
तीस वर्ष तक रची राजमदिरा की लाली ।
आलिगन मे बधा स्वप्न जब
सिधु और आकाश हो गया,
महागमन की जिस वैराग्य-भरी बेला मे
तप की पहिली भोर बनी थी
सेज और सिहासन की मधुरात अखीरी ।
देख रहे सपाति-नयन शिव को सीमा पर
वे शताब्दियों तले दूर देशातर फैले
वल्मीकी-से कच्चे मदिर, चैत्य, पेगोडा,
जिनसे शीतलता का कन लेने आते थे
रानी, राजपुत्र भिक्षुक बन ।
फैल गई थी मिट्टी के अतर की बाहे,
सत्य और सुदरता के अविरल सघों से
स्याम, ब्रह्म, जापान, चीन, गाधार, मलय तक,
दीर्घ विदेशों के अशोक-साम्राज्यों ऊपर ।
नही रहे वे महावश अब,
वे कनिष्क-से, शिलादित्य-से नाम हजारों,
किंतु तक्षिला, साची, सारनाथ के मदिर,
और जीति-स्तभ धर्म के बोल रहे हैं—
जिस सीमा पर पहुच न पाई , हुई पराजित,
कुफ्र तोड़ने की, क्रूसेडों की तल्वारें
वहा विश्व जय हुई प्यार के एक घूट से !

[आल इ डिया रेडियो दिल्लीसे]

प्रभाकर माचवे

[**माचवे, प्रभाकर बलवन्त** ; जन्म ग्वालियर में दिसम्बर १९१७ में हुआ। कालेज की शिक्षा आगरे में पाई, जहाँ से सन् १९३९ में दर्शन और सन् १९४१ में अगरेजी साहित्य विषय लेकर एम०-ए० पास किया। नवम्बर १९४० में सेवाग्राम में "महात्मा गांधी के निरीक्षण में" विवाह हुआ। अब उज्जैन में तर्कशास्त्र के अध्यापक हैं।

प्रभाकर मराठी और हिन्दी दोनों में लिखते हैं, और पर्याप्त लिखते हैं—कविता, कहानी, परिहास, आलोचना और 'भूमिकाएँ भी'। पत्र-पत्रिकाओं के अलावा कई रचनाएँ पुस्तकों में भी छपी हैं।

चित्रकला मे विशेष रुचि है, घूमने में भी थी पर क्रमशः कम होती जा रही मालूम होती है जोकि गुरुत्व के साधारण नियम के अनुकुल ही है।

एक कविता की कुछ पंक्तियों के अर्थ के बारेमें दुविधा जताई जानेपर कविने जो उत्तर दिया वह उसका अच्छा परिचय है। "—की अन्तिम पक्तियों का अन्वय करनेमें आपको यों दिक़त पडती होगी कि उसमें फ्रायड की शब्दावली में 'वर्श्राइबेन' हो गया है—यानी एक पूरी की पूरी पक्ति मैं भूल गया हूँ। उन पक्तियों को यों पढिए······ या अपने मन से दुबारा लिख लीजिए, या निकाल दीजिए। अर्थ पाने का सबसे अच्छा (जैनेन्द्राइट) तरीका यह है कि उस हिस्से या वाक्य को काट दिया जाय'।]

—∞∞—

वक्तव्य

यहाँपर अपनी रचनाओं के सबधमें, न तो भावुकताजन्य आत्मसमर्थन से भरी और न-ही स्व-मताग्रह से पाठकोंको पूर्वदूषित करनेके तथाकथित बुद्धिवादी ढगकी कैफ़ियत मैं देना चाहता हूँ। कविता और पाठक के बीचमें सीधा भाव-विनिमय होनेके पक्षमें मैं हूँ; इन दोनों के बीचमे व्यक्ति कवि को लाना मैं अवाछित और अप्रस्तुत समझता हूँ। अत. 'अपनी' कविताओंके विषयमें मौन रहकर जब कविता-मात्र पर, कविता नामक जातिबोधक सज्ञापर (भाववाचक सज्ञापर नहीं, क्योंकि अधिकाश भाववाचक शब्द अभावसूचक ही होते हैं) मुखर होनेका विचार करता हूँ तब काव्यरचना के आदि-कारण और अन्तिम-हेतु के सबधमें भी कोई सर्वसामान्य नियम बनाना मुझे तर्कसंगत नहीं जान पड़ता। कला की अपनी स्वयम्-निर्णीत तर्क-पद्धति होती है। इसलिये रचना की प्रक्रिया पर ही कुछ कहा जा सकता है: वस्तु-विषय, व्जयना आदिपर।

कवितागत रोमान्स और यथार्थ, एक ही कोण की दो भुजाएँ हैं। रोमान्स स्वस्थ मनका भावनात्मक रुख है, यथार्थ उसीकी बुद्धिगत परिकल्पना। कोलरिज का एक बहुत अर्थपूर्ण कथन है कि 'गहरी भावनाएँ गहरे विचार की कोखसे जन्मती हैं'। आज हिन्दी कवितामें रोमान्स के छिछले और गँदले हो जानेके कारण यथार्थपर अधिक जोर दिया जा रहा है। यह अशतः आवश्यक और इष्ट भी है। पर यही स्थिति क्या सदाके लिये रहेगी? युगकी वाणी जैसे गरीबों पर निरे निष्क्रिय आंसू बहाकर या बोर्जुआ को दस-पाँच गाली देकर समाप्त नहीं हो जाती, वैसेही युग-युग की वाणी भी मर्मियोंकी भाषा का विवेकशून्य अनुकरण कर, अप्रस्तुत-अलकार-योजना से ही पूरी नहीं होती। असलमें कालके मानदड से वाणी का यह वर्गीकरण ही ग़लत है। 'साहित्यमें अमरता' इस शब्द में ही एक मुग़ालता है, एक अनैतिहासिकता छिपी हुई है। कविता इतिहास की जननी न होकर, पुत्री है।

व्यक्तिगत अनुभवके कुछ क्षण ऐसे होते हैं जो अत्यधिक सामाजिक आशय से गर्भित रहते हैं। उनमें मानव और प्रकृति, प्रकृति और सस्कृति के सतत-सघर्ष के गति-चित्र का ऐसा अशाकन होता है कि उसकी पुनरावृत्ति असभव है। कवितागत मौलिकता का अर्थ वही अशाकन है। वह अशाकन है सामाजिक परिपार्श्व मे व्यक्तिकी मानसिक प्रभाव-प्रक्रिया, वेदना-सवेदना, प्रगति-अ-गति आदि का प्रामाणिक विम्ब-चित्रण। इन्हीं नाना-भाव-विचार-सवेदना-मिश्रित 'विशेषो' को ज्यों-का-त्यों व्यक्त करनेके कारण, एकबार अपनी कविताओंको चित्रकला से एक शब्द उधार लेकर 'इंप्रेशनिस्ट' अथवा विम्बवादी' शब्दसे मैंने विशेषित किया था। सभव है कि मुझमें का चित्रकार

मुक़ाबले के कविपर तब हावी हो रहा हो। संभव है किसलर, सिजान, गोया, डी रेवेरा की चित्र-शैलीगत वर्ण-योजना, रिल्के, इलियट, लारेंस, स्पेंडर, सेसिलडे लुई और ओडेन की पद्य-रचनागत वर्ण-योजना से टक्कर न खाती हो। परतु चूँकि मैं 'विशेष' को 'साधारण' से अविछिन्न और अविभाज्य मानता हूँ, एक ओर जहाँ 'स्वान्त सुखाय' को स्वरति कहनेमें मैं नहीं हिचकता, दूसरी ओर ट्राटस्की के 'कला हथौड़ा है'—वाले नारे से भी सहमत नहीं होना चाहता। मैं यह भी मानने के लिये तैयार हूँ कि 'विम्बवाद' ही कविता नहीं है, अगर आप यह मानें कि 'विववाद' भी कविता है।

आधुनिक हिन्दी कविता मे आत्म-रति, मृत्यु-प्रेम और सकेतो से स्वप्नपूर्ति करने की आदत के कारण घोर अनिश्चय, यह तीन दोष (मनोविज्ञान की शब्दावली में Auto-eroticism, Necrophilia और Aboulia) इतने स्पष्ट हैं कि उन्हें प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं। छायावाद हिस्टीरिया की भाँति हिन्दी कविता का एक मानसिक रोग है। दोनो में स्मृतियो की प्रच्छन्न और अज्ञात पुनरावृत्ति तथा तज्जन्य अहेतुक त्रास (फ्रायड की भाषा में Ersatzbildung और Flottierende Angst) दिखाई देते हैं। अत. एक तरुण, स्वस्थमना कवि के लिये छायावाद का माध्यम स्थविर, रुग्ण और spent-up जान पड़ता है।

पेंडुलम प्रतिक्रिया से जिस प्रकार दूसरा छोर पकड़ लेता है, ऐतिहासिक जड़वाद के अध्ययन से और भारतीय राजनैतिक क्षितिज के धूम-सकुल हो जाने से, नये कवियों ने छायावाद तज कर प्रगतिवाद को अपनाया। अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे यह अभी अपरिपक्व और नामका ही प्रगतिवाद है। उसकी जड़ें जीवन में धँसी हुई न होने से, जो स्फूर्ति वह पाता है वह एक बुद्धिजीवी, ऊर्ध्वमूल, सीमित वर्ग से ही है (जो कि अधुना चौतर्फा Frustration का शिकार है)। फलत प्रगतिवाद में एक अनावश्यक प्रदर्शन-प्रियता (Schaust), दमित इच्छाओं से निर्मित होने वाला औद्धत्य की सीमा तक पहुँचने वाला पर-पीड़नप्रेम (Sadism) और प्रचार के विद्रूप कुनैन पर कला का शर्करावरण पहिनाने की या राजनीतिक पक्ष-विशेष का 'माइक' कविता को बनाने की प्रवृत्ति आदि दोष रह गये हैं। वे सब धीरे-धीरे मिट जायँगे ऐसा मेरा दृढ विश्वास है। इन दोषों के बावजूद भी हिन्दी कविता के भविष्य के विषय में आशावाद के लिये बहुत गुंजाइश है।

इन दो वादो को छोड़, हिन्दी कविता मे एक समय की बहुत लोकप्रिय बनी हुई राष्ट्रीयतावाद की लहर अब धीमे धीमे मंद पड़ती जा रही है, क्योंकि छायावाद और प्रगतिवाद दोनों के समन्वय (?)-जन्य दोष उसमे इकट्ठा आ गये हैं, क्योंकि वे प्रगति को छाया समझते हैं और छाया को ही प्रगति। इस प्रकार वस्तु की दृष्टि से, हिन्दी कविता मे अभी विषयो की विविधता, व्यग का तीक्ष्ण और सुरुचिपूर्ण प्रयोग, प्रकृति के सम्बन्ध मे अधिक वैज्ञानिक दृष्टि, जन-जीवन के निकटतम जा कर ग्राम-गीत, लोक-गाथा और बाजारू कहलाई जा कर हेय मानी जाने वाली बहुत सशक्त और मुहावरेदार जबान से नये-नये शब्दरूपो और कल्पना-चित्रों को ग्रहण करना, और प्रयोगशील अभिव्यजना के प्रति औदार्य आना चाहिये।

व्यजना की दृष्टि से भाषा, कल्पना और छन्द पर दो शब्द कहूँ · कवितागत भाषा को भावानुकूल अदलने-बदलने का पूरा अधिकार होना ही चाहिये। ज्यों-ज्यो कविता की भाषा अधिकाधिक आम जनता की भाषा बनती चलेगी, उसमें प्रादेशिक शब्द अधिक आवेंगे, और यह इष्ट ही होगा। मगर शब्दों की अभिधामूला लक्षणा की अपेक्षा व्यजनाशक्ति पर मेरी अधिक श्रद्धा है। शब्दो के लिखने मे भी कई ध्वनियाँ को हिन्दी लिपि नहीं लिख सकती। (यह शिकायत चौदह वर्ष पहिले कविता-कौमुदी के सम्पादक ने ५वे भाग की भूमिका में की थी) इसके लिये जैसे साधारण स्वरोच्चार के दीर्घीकरण के लिये अवग्रह हैं, अर्धोच्चार या द्रुतोच्चार के लिये भी चिन्ह आवश्यक हैं। मराठी मे चूँकि बँगला की तरह ह्रस्व को दीर्घ पढ सकने की सुविधा है, आधुनिक मुक्त-छन्द मे अक्षर-छन्दों का प्रयोग सहजता से जहाँ होता है, ऐसे चिन्हों का उपयोग करते हैं। 'निराला', 'नवीन' और नरेन्द्र शर्मा का आदर्श,

भाषा के सम्बन्ध में, मैं मानता हूँ, चूँकि तीनो ने इस दृष्टि से काफी प्रयोग किये हैं, रोमैंटिक, रीयलिस्टिक और क्लासिकल तीनों शैलियो में

हमारे यहां सूझ और कल्पना को कविजन और आलोचक भी प्रायः पर्यायवाची मान लेते हैं। परन्तु मनोवैज्ञानिक कहेंगे कि यह बात सच नहीं है। कल्पना वैसे तो अनेक प्रकार की हो सकती है, जिसमे से काव्य में तीन तरह की कल्पना पाई जाती है— पुनर्निर्माणात्मक, रचनात्मक, मौलिक। अन्तिम यानी नवोन्मेष से विस्फूर्जित और उत्सेकित कल्पना की हिन्दी कविता में कमी है। उसके लिये हमें अपना अलकार-विधान आमूल वदलना होगा, उपमान मांजने होगे रूपकों की कलई खोलनी होगी, उत्प्रेक्षाएँ सचमुच भाव के उत्स से उत्प्रेरित हैं या नहीं यह देखना होगा। हमारी कविता मे पाये जाने वाले अधिकाश कल्पना-चित्र या विम्ब (images) बच्चों के से निरे शाब्दिक, सहस्मृत या परम्परागत होते हैं। इन verbal, associational और traditional images के बजाय हमे राग और ज्ञान से पूरित ऐन्द्रेयिक, आवेगाश्रित और अभिजात images की सृष्टि करना है। हमारे अलकार अधिक वैज्ञानिक, आधुनिक और वैशेषिक हो अन्यथा निरे अलकार-साख्य से निरलकार काव्य-रचना वेहतर है।

छन्दोरचना के विषय में, हमे नवनवीन प्रयोग अपनाने होंगे। अन्य भाषाओ के छन्द भी हम ले। 'निराला' द्वारा हिन्दी मे लाई गई मुक्त, विषमचरणा-वर्तिनी, अ-तुकान्त अक्षर-मात्रिक छन्द पर आश्रित तालात्मक पद्यरचनापद्धति श्रेयस्कर है। उसमें भावों के उतार-चढाव के अनुकूल गति के श्लथ-द्रुत होने की सम्भावना यदि हो सके, और अधिक गेयता और गद्यात्मकता कम आ सके तो और अच्छा। अन्तर्गत प्रास-योजना सहज हो ; वह शब्दनिष्ठ न हो कर अर्थनिष्ठ हो। जहां एक ओर लम्बे लम्बे कथा-काव्य 'मसनवी' और 'पोवाडे' के ढग पर लिखे जायँ वहीं गीतों की ओर से हम एकदम निराश न हो जायँ (चूँकि अव तो हिन्दी में विल्कुल सगीतानुकूल न होने वाली रचना पर भी 'गीत यह गोलमोल शीर्षक देने का फैशन चल पड़ा है।) 'गीत-अगीत कौन सुन्दर है ?'

उपर्युक्त विवेचना से मेरा कदापि यह आशय नहीं है कि मेरी रचनाएँ जो इस संग्रह में हैं, वे सब मेरे इस 'फतवे' की सब शर्तों को पूरी करने वाली या उन-उन काव्यदोषो से पूर्णत अलिप्त हैं। इस प्रकार दोषो की स्वीकृति हमे उत्तरोत्तर बल देती है, और आत्मालोचन तो, बुद्धियुक्त होने का प्रथम लक्षण है। सामाजिक मूल्यों के पुन्र्मूल्याकन के 'हरक्यूलियन' कष्टसाध्य कार्य मे एक अवश्यम्भावी शर्त है आत्म-विश्वास , यदि किसी को आत्मविश्वास भी अहन्ता जान पड़े तो उसका क्या इलाज ? मुझे कहने दीजिये कि वह आत्मप्रकटीकरण की एक समर्थनीय और क्षम्य अपरिहार्यता है।

—प्रभाकर माचवे

---

१ बसंतागम

गा रे गा हरवाहे दिलचाहे वही तान
खेतों मे पका धान
मजरियो में फैला आमों का गव-ध्यान
आज बने हैं कल के ज्यों निशान,
फूलोमे फलनेके हैं प्रमाण !

खेतीहर लड़की की भोली-सी आँखोंमें; निबुओंकी फाँकोंमे,
मुसकाता अज्ञान, हँसता है सब जहान,
खेतों में पका धान !

मधुरितु रानी महान्,
मानिनी, बसती रँग चोली झलके जिसकी,
ढलके आँचल धानी लहरा-सा,
आँखोंमे आकर्षण भी खासा,
युग-युग का प्यासा-सा छलके दिलासा जहाँ,
उतरी उन सरसो के खेतोंपर मायाविनि
हलके-हलके-हलके।
फूलमें छिपे निशान हैं फलके।

उतरी बासन्तिका,
तहलका-सा छाया तरु-दुनिया मे, छुटा भान,
स्वागतमे कोकिला का पिडुकी का जुदा गान।

'आशा ही आशा है'
आज अनिर्बन्ध, ऊष्ण, अरुण प्रेम-परिभाषा
पल्लव की पल्लव से सुरभिमय यही भाषा—
'आशा ही आशा है········'
बासती की दिगन्त-रिनिनिनमयि शिजनियाँ,
पड़ती जो भनक कान,
परिवर्तित लक्ष-लक्ष श्रुतियोंमें रोम-रोम,
पखिल हैं पचप्राण।
गा रे गा हरवाहे, छेड़ मन चाहे राग
खेतों में मचा फाग।

२ मेघ-मल्लार

मालव की सन्ध्याएँ
मेघल अवसाद-ऊदी।
कोमल मधु-याद बँधी—
सजल,शीत वह बयार।
मन का सवव्यथा-भार
बह चले निराधार
निराकार·····
मनमे सुधि उतर चली।
दूर-दूर की लहरी
व्याप चली रोम-रोम।
आनत काली बदली
ज्यों दाहक चैतमे भी
नाप रही पूर्व-व्योम—
'होम, स्वीट होम'।

+ + +

मैं खींच रहा हूँ आज अकाज लकीरें
आ भरदे उनमे रग-रूप तू पी रे।
मैं तालहीन स्वरहीन छेड़ता वशी,
तू भरदे उस मे नाद-माधुरी धीरे।

कुछ रिक्त हो चली दुनिया मेरे मन-सी
कुछ रिक्त हो चली जगती इस जीवन-सी
तुम निज आर्द्रा घिर-घिर कर क्षणभर छादो—
सन्तुष्ट हो चले हिय की प्यासी हसी।

तुम अलस-भाव से प्राण, मलार कँपा दो
जो बरस पड़े सहसा याँ सावन-भादो,
यों सरस हो उठें अवनि-दिशा-घर-अम्बर
हो जाँय एक सब बिछुड़ी तन-मनसा दो।

+ + +

आषाढ़ लगे···होगई निहाल प्रतीची
उस क्षितिज-कोर तक गीली गुलाल सीची
किस प्रतीक्षिता ने हेमल-रेखा खींची।
निज विथा सघन, घन छोरहीन तू कहले
कैरव-पखी, किरमिजी, असित मटमैले
यक्ष के विधुर उच्छ्वास गगन तक फैले।
बदली-गुंठन में विस्तृत वन-गिरि आवृत
घन नील लेख से क्षितिज रेख भी सवृत
अग जग में विश्रुत मात्र निदारुण निभृत।
गोधूलि मेघमय, सुधा करुण यह बेला
घर विहग लौटते, तिमिर उरग भी फैला
जा रहा पान्थ अश्रान्त अशान्त अकेला।

३ सानेट

मैंने जितना नारी, तुमको याद दिया है, प्यार किया है,
तुमने भी क्या कभी भूल से सोचा था कैसा है यह मनु?
मैंने क्या अपराध किया जो तुमने यों इसरार किया है
जाने कैसे विद्युत्कर्षण से परसित है तन-मन-अणु-अणु।
तुम मेरे मानस की सगिनि, चपल विहगिनि, नीड़ कि शाखा?
तुम मेरे मन की राका की एक मात्र नक्षत्र—विशाखा,
तुम हो मृगा याकि आर्द्रा हो? नहीं, रोहिणी, तुम अनुराधा
तुम छायापथ,ज्योति-शिखा तुम,तुम उल्का, आलोक शलाका,
सशय के सघनान्धकार मे विद्युन्माला अयि अचुम्बिते!
तुम हरिणी, मालिनी, शिखरिणी, वसन्ततिलका,
द्रुतविलम्बिते!
तुम छन्दों की आदि प्रेरणा, प्रथम श्लोक की पृथुल वेदना,
तुम स्रग्धरा याकि मन्दाक्रान्ता, ओ आर्या, गीति स्तम्भिते!
मैं गतिहारा 'यति-सा ग्रहसे शून्य प्रभाकर, मैं वैनायक
तुम रागिनी और मैं गायक, तुम हो प्रत्यञ्चा, मैं सायक!

४ यहाँ मुक्तिकी प्रबल चाह

यहाँ मुक्तिकी प्रबल चाह है उसी एक दुर्दान्त शक्तिकी—
हमें न कोई पनाह अथवा शरण चाहिए अन्ध-भक्तिकी !
यहाँ सरल अन्तर दो परस्परातुर, और चाहिए भी क्या ?
हमें न किंचिन्मात्र ज़रूरत किसी तर्क की, किसी युक्तिकी !

५ चार पंक्तियाँ

निर्जन की जिज्ञासा है निर्झर की तुतली बोलीमे
विटपोंके हैं प्रश्नचिन्ह विहगोंकी वन्य ठठोलीमे
इंगित है 'कुछ और पूछ लूँ' इंद्रचापकी रोलीमे
संशय के दो कण लाया हूँ आज ज्ञानकी झोलीमें ।

६ चार और पंक्तियाँ

जब दिलने दिलको जान लिया
जब अपनासा सब मान लिया
तब गैर-बिराना कौन बचा
यदि बचा सिर्फ तो मौन बचा !

७ राही से

इस मुसाफिरीका कुछ न ठिकाना, भइया
याँ हार बन गया अदना दाना, भइया
 है पता न कितनी और दूर है मञ्ज़िल
हमने तो जाना केवल जाना, भइया !

तक़रार न करना जाना हैएकाकी
हमराह बचेगा कौन भला अब बाकी
 जब सबल भी सब एक-एक कर छुटता
बस बची एक झाँकी उन नक्शे-पाकी !

छुट चले राहमें नये-पुराने साथी
मिट गई मार्गदर्शक यह कपित बाती
 नगी प्रकृति बीरान भयावन आगे
मैं जाता हूँ, आओ हो जिसकी छाती !

८ प्रेम : एक परिभाषा

प्रेम क्या किसी मृदूष्ण स्पर्श का भिखारी ?
 प्रेम वो प्रपात
 गीत दिवारात
 गा रहा अशान्त
प्रेम आत्मविस्मृत पर लक्ष्य-च्युत शिकारी
 प्रेम वह प्रसन्न
 खेत में निरन्न
 दुर्भिक्षावसन्न
सृजक कृषक खड़ा दीन अन्नाधिकारी

९ गेहूँ की सोच

काँप रही खेतो मे गेहूँ की बालियाँ
मेड़ पर बैठा है भूमिजन चिलम पीता, खाँसता ।
सोचती हैं बालियाँ—
'यहाँ से हमें तोड़ तोड़
बच्चे ले जायँगे,
जलाएँगे होली में
 (गायेंगे गालियाँ
 बजायेंगे तालियाँ)
याकि हमे जोड़-जोड़
खेतीहर अनजान
बेचेंगे किसी लाभकर्मी निरे खुदग़र्ज बनिये को
(बेचेंगे यह कपास, वह जूट , हाय हम मे ही फूट !)

बहुत कुछ जाएगा लगान
कुछ जाएगी कर्ज-किश्त
बाकी रह जाएगी—
झोंपड़ियो की उन भूखी आँतड़ियों के लिए सूखी
एक बेर रोटी—!
क्या यह नीति खोटी नहीं ?
गेहूँ के मोती-से दाने जो पसीने से
उगाए, अरे बंदे हो उसी के भाग
आँसू के दाने सिर्फ !
सींचे वही खून जो लगाए वह सीने से,
और आँख मीच खाँय वे कि जिन्हें जीने से

उतरने में कीनखाब गड़ती हो .. ।
छि ऐसे जीने से बेहतर नहीं है क्या
होली में जल जाना ?
होली में जल जाना क्या है बुरा ?
क्या हैं बुरी गालियाँ ?'
सोचती हैं बालियाँ....

जब तक नहीं आसान मिलती हैं तालियाँ
मानव के कोष-दोष-जन्य घोर असतोष
सचय के,
विनिमय के वैषम्य के मदहोश तालों को ।

१० वृष्टि

वर्षा,
जिसने कर्षक को आकर्षा ।
स्वस्थ, मस्त बूँदों ने आकर,
विपद्ग्रस्त धरती को स्पर्शा ।
सहसा जलमय हुए झील, रत्नाकर,
नाले, नदियाँ, निर्झर ।
यकसा जन-जन का मन हर्षा ।
झरर-झरर-झर
ये सघर्षातुर झड़ियाँ, या
झन-झन-झन बजती-सी कड़ियाँ ,
व्योम-समर-भू में झूमे जो
मत्त मेघ के महासैन्य को वाताहत करने को उद्यत्,
धरती जिसकी लू से झुलसी थी
वह पुन गुरिल्ला दल-सी—
वही हवा दुर्द्धर्षा !
ऐसी वर्षा !
हहर-हहर कर—
बाढ आ गई क्षुद्र पीन नद मे भी,
ढहे कगारे जीर्ण-समाज-व्यवस्था-से, गतिहारे आदर्शों से ।
गेहूँ-सा मटमैला फैला पात्र नदी का ।
दूर-दूर तक इ किलाव-से बद्दल जिनका पार न दीखा ।
कीच मचा,
औ'
धारा-जो कि स्वर्ग से गिरती
धारा आज धरा से मिलती, तभी उसे मिलता छुटकारा ।
गर्म श्वास यों निकले नर्म रसा से—
निःक्षत्रिय करने को मानों आज उठ खड़ी
सरोष जनता लेकर फरसा,
ऐसी वर्षा !

११ रेखा-चित्र

सभा है धुँधली, खड़ी भारी पुलिया देख,
गाता कोई बैठ वाँ, अन्ध भिखारी एक ।

दिल का बिल्कुल नेक है, करुण गीत की टेक—
'साँई के परिचै बिना अन्तर रहिगौ रेख' ।
(उसे काम क्या तर्क से, एक कि ब्रह्म अनेक !)

उसकी तो सीधी सहज कातर गहिर गुहार
चाहे सारा अनसुनी कर जाए ससार !
कोलाहल, आवागमन, नारी-नर बेपार,
वहीं रूप के हाट में, जुटे मनचले यार ।

रूपज्वाला पर कई लेते आँखे सेंक—
कई दान के गर्व मे देते सिक्के फेक ।

कोई दरद न गुन सका, ठिठका नहीं छिनेक,
औ' उस अन्धे दीन की रुकी न यकसाँ टेक—
'साँई के परिचै बिना अन्तर रहिगौ रेख !'

१२ देशोद्धारकों से

मृदुल नीद नीड़ की गोद मे
और परों की सेज नरम,
बाहर झुलसी हवा बह रही
रह रह कर लू तेज गरम,
बाहर अर्धनग्न पीड़ा,
भीतर क्रीड़ा-लबरेज हरस,
करुणा के आँगन मे, नेता,
दे थोड़ी-सी भेज शरम !

१३ वह एक

वह एक
मैला-सा कुर्ता पहने बेच रहा अखबार :
'अरजुन, स्वराज, जन्मभूमि, आज, अधिकार—'
दो पैसे या कि चार-चार।
कहता है वह पुकार
आज चीन-जापान लड़ाई,
कल हिटलर की चढाई,
और परसों श्री गाधी का उपवास....
वह क्या समझता है राजनीति ? खाक-धूल!
उसे क्या पता है यह फैला कहाँ तक है
मैला जीवन-दुकूल!
उसको न परवाह कांगरेस नैया की पतवार—
वाम-पक्ष पै है या हराम-पक्ष पै है,
वह जानता है महावार
तनखा साढे तीन कल्दार!
उसको हैं जिन्ना, बोस,
हिटलर, पटेल, घोष,
यह सब बस निरे नाम
उसका तो फकत काम
चिल्लाना बार-बार
तीन मरे, दस घायल—
दगा, बम फटे, या कल मर गए फलाँ-फलाँ।
यों ही चला करता है दुनिया का दौरान
उसको न रजो-गम उसको तो एक भान—
बेचना ये समाचार—
चाहे सम हो कि विषम!

* * *

वह एक मशीन
जिसमे इस दुनिया के गोले के प्रत्येक
कोने से आती जो खबर है रगीन श्री-हीन,
सब बनके अक्षर ढल जाती हैं, छप कर के जो निकली
लक्ष-लक्ष चक्षुओं से निगली गई वे और
बिक भी गई वे गली-गली मे। कि चौबीस
घटों के बाद पुन बासी। यह खड़-खड़-खड
दैनिक की 'रोटरी' की प्यास बड़ी सगीन. .
वह एक!

१४ निम्न मध्य-वर्ग

नोन-तेल-लकड़ी की फिक्र में लगे घुन-से,
मकड़ी के जाले-से, कोल्हू के बैल-से।
मकाँ नहीं रहने को, फिर भी ये धुन से
गन्दे, अँधियारे और बदबू-भरे दड़बों में
जनते हैं बच्चे।

शहर की तमाम नालियों की जो सड़ाँध है,
न घुस पाती इनके दिमाग मे, न नथुनों में।
पुर्ज़ों-से बेजान,
बीस बीस पच्चीस
महावार रुपयों पर जीते हैं।
इनके है कोई नहीं विश्वास अथवा मत।
जैसा कहा सब ने, त्यों,
इनने भी गर्दन हिलाई,
पुन कर्मरत।
इनके यों जीने में कौनसा बचा मतलब ?
आशा कौन-सी है इन्हे,
फिर भी ये जीते हैं,
उच्च-मध्यवर्ग की नक्ल करते
बोल-चाल, रहन-सहन, कपड़ों मे, रस्मों मे।
लहू नहीं, गोमूत्र बहता इन जिस्मों में,
इसीसे सदा डरते क्रान्ति से, नवीनता से घबड़ाते।
पीटते लकीर।
औ' मुहल्ले मे इनके जो आता है
सदा देने बुड्ढा फकीर,
वह भी तो जानता है
इनकी इस दासत्व-जर्जरित मनसा की नस-नस, सो
कहता है—'काम मे तरक्की हो,
ओहदा बढे,
कमाने वालों को खैर रहे,
औलाद बढती रहे,
मिल जाय पाव भर आटा',
जब कि इनका ही
इस विराट आर्थिक विपन्नता की
चक्की मे पिस-पिस कर
बन रहा महीन खुद आटा है।

१५ 'दा ज्द्रास्तव्युते सोवित्स्की सोयूज* !'

(सॉनेट)

व्योम मे सगर्व जा रहा सगर्व सैन्य लाल
पितृदेश के अनन्य भक्त वीर नौजवान,
पखहीन ये विहगराज, सैकड़ों विमान,
शत्रु देख अग्निवृष्टि, हो परास्त, हो विहाल !
भूमि पै चला रही सधीर वीर-अगना
तोप औ' विमाननाशिका व शस्त्रगाड़ियाँ !
आज रूस की हुई कई उजाड़ बाड़ियाँ
किन्तु धैर्य की दिवाल हो जरा भी भग ना !
राक्षसी, बुभुक्षिता, महाकृतान्त-दूतिका
आ रही असख्य चील-सी विमानवाहिनी,
छा रही अनन्त सबमैरीन सिन्धुगाहिनी,
योजनान्त टैंक औ' विनाशिका स-स्वस्तिका,
किन्तु रूस का समस्त, स्वस्थ-मस्त तरुण-वर्ग
सोवियत्-जयध्वनी, चढा रहा सु-शीश-अर्घ्य !

१६ कविता क्या है ?

कविता क्या है ? कहते हैं जीवन का दर्शन है--आलोचन,
(वह कूड़ा जो टँक देता है बचे खुचे पत्रों मे के स्थल)।
कविता क्या है ? स्वप्न श्वास है उन्मन कोमल,
(जो न समझ मे आता कवि के भी ऐसा है वह मूरखपन)।
कविता क्या है ? आदिम-कवि की दृग-झारी से वरसा वारी-
(वे पक्तियाँ जो कि गद्य हैं कहला सकतीं नहीं बिचारी)!

१७ छलना

हेमन्ती सन्ध्या है, सूरज जल्दी ही डूबा जाता है—
मन भी आज अकारज चिर-प्रवास से क्यों ऊबा जाता है ?
फसल कट गई, कहीं गड़रिया बचे-खुचे पशु हाँक रहा है,
प्राच्य-क्षितिज पर कोई अजन-म्लान-गूढ छवि आँक रहा है।
बचे-खुचे पछी भी लौटे, घर का मोह अजब बलमय है,
मानव से प्रकृति की छलना, प्रकृति से मानव छलमय है !

* (रूसी में 'सोवियत यूनियन जिन्दाबाद !)

१८ बादल बरसैं मूसलधार

बादल बरसैं मूसलधार
चरवाहा आमों के नीचे खड़ा किसी को रहा पुकार
एक रस जीवन पावस अपरम्पार
मेघों का उस क्षितिजकूल तक पता न पाऊँ
कि कैसा घुलमिल है ससार
—एक धुन्ध है प्यार····

······· ······ ·

बहना है
यह सुख कहना क्या
उठना गिरना लहर-दोल पर
हिय की घुण्डी मुक्त खोल कर
पर उस दूर किसी नीलम-घाटी से यह क्या बारम्बार—
चमक-चमक उठता है ?
विम्बित आँखों में अभिसार...

· ···· ·······

आज दूर के सम्मोहन ने यात्रामय कर डाला
बिखर गया वह सचित सुधि-धन जो युग-युग से पाला !

··· ·········

पर यह निराकार आधार
कहाँ से सीटी बजा रहा है
बुला रहा है, पर बेकार—
यहाँ से छुट्टी रजा कहाँ है ?
गैयाँ चरती हैं उसपार
दूर धबीले चिह्नमात्र हैं
जमना लहरै तज बधार—
बादल बरसैं मूसलधार !

१९ काशी के घाट पर

निशि मेघाकुल ...
अमित असित धूमिल मेघोंसे भरा हुआ नभका पड़ाव
शशि की झिलमिल—
छोटी-सी लहरों में डगमग पथहीन नाव
किस मृगनैनी की चपल-चपल—
चितवन की सुधि से परिचालित युव-मनोभाव !
शशि न, किसी का दिल

रह-रह कसके, स्मरकर प्रिय का दुराव—
छिन में आलोकित हो उठती शत-शत तरंग
मन मे आलोड़ित सौ उमग, सिहरते अग
उड़ उड़ जाते हैं सुधि-विहग
कुछ दिशा-रहित, कुछ लक्ष्य-भ्रांत
कुछ सखा-सहित,कुछ यों अमग–
सब ही अशान्त ,
ज्योत्स्ना का छिन में कुम्हलाता
लहरिल सम्मोहक मदिर मान
जोगी हो मोहातुर गाता
मन मे तुषार-मय विदा-गान
'प्रत्यक्ष भाव जब सपनों की सचित रुझान
जब बाँध रखे वक्षसे वक्ष
बाँहों में भर कर विकल बाँह
जाना था किसने नेह-राह का
यह विषाक्त भवितव्य, आह !
बँधना प्राणों से मुक्त प्राण ...
है दक्षयज्ञ का सविधान
उरकी ऊमा का लक्ष-लक्ष अशों में पाना मरण-दान !'
अब डोंगी भी हिल-डोल उठी, पाकर गगाका दूर तीर
मनुआ अधीर, नयन के नीर से बोझिल गहरी विक्षुब्ध पीर
छितरा-छितरा सा व्योमघाट पर छायाभा का अजब साथ-
आखिर उर मे भी डोल उठी, कुछ 'मावस, कुछ रुपहली रात।
छू चली पुरातन नेह-वात
रोमाल हो उठे गात-गात ।
टिम-टिम तारा ऊपर सभीत
खेया का कम्पित-कठ गीत
आ भर लूँ हिय में तुझे मीत
आ पास और उत्कटता से
उत्ताल लहर की मर्जी पर
खो दे जीवन पल-कल्प-प्रहर ;
एकान्त सत्य बहते रहना—
निज विथा किसी से क्या कहना ?
सुधि-सबल ले चिर-एकाकी
बस सफर-मफर ,
आ पास और तन्मयता से—
अब इन लहरों की मर्जी पर,
मिलकर जीवन में जीवन-स्वर,
हो जायँ अमर, निर्भर, अन्तर
उत्ताल तरगों की गति पर—
क्या पता कहाँ आना-जाना क्या कूलों की परवाह, पिया
इस क्षण दो ओठों मे गाना दो ओठों में हो चाह, पिया
वह हिलराता मदमाता हो, मौजें लेता दरियाव, पिया
मेघों में मुँह ढाँके मयक,
सुधि मन मे गिनती घाव पिया

२० अश्वत्थ

सन्ध्या की उदास छायाएँ
पीपल का यह सघन बसेरा
लौट रहा खगकुल आकुल-मन
कोलाहल मय प्रति कोटर-वन
सुदूर एकाकी तारक ज्यों
गीत अकेला-सा यह मेरा···

२

भूरे नभ में रात उतरती
शिशिर साँझ-की धुँधली बेला
पीपल का विराट् श्यामल वपु
खड़ा हुआ कंकाल अकेला
एक चील का क्षीण घोंसला
क्षीण, तीजकी पीत शशिकला
अटके हैं ज्यों जीर्ण देह मे
बचा मोह का तन्तु विषैला ।

३

मधु-ऋतु की सकाल अरुणाली
उसी एक पीपल की झाँकी
पुन पनपकर हरी कोंपलों ने
विवसन शाखें भी टाँकीं
फिर से आ बसते हैं पाखी
जग मे लहरी नूतनताकी
पर मैं वैसा ही बाकी हूँ
वैसी ही कड़ियाँ एकाकी ।

२१ मैं और खाली चा की प्याली

(१)

आज प्रात ही कुछ धुँधली है,पाटल कलिका की पलकों पर—
पहली रिमझिम की बूँदें हैं। हरित, स्नात,चेतोहर कोंपल।
वर्षा का दिन,बादल अनगिन,निरख रहा हूँ मलिन व अमलिन
एक-एक छिन चुके सुखाशा के साथी, अब हूँ संगी बिन...
मुझे कौन दे सजीवन ? दिल का थाला कब से खाली है
शून्य दिशाएँ आँधी-लक्षण, मैं हूँ, यह चा की प्याली है।
बादल सागर की आशीषें, या कि धरित्री का प्रतिऋण है ?
करुण-सजल वातास, अकेलापन क्यों मानव को दारुण है ?
क्यों है दाहक चाह कि मस्ती में कोई सपना झकझोरूँ
क्यों यह नाहक राह सत्य की भाती नहीं, आह दिल चोरूँ ?
खिला बाग है, मिला चोंच, भीगे पर सिमिटाये दो चिड़ियाँ
बिजली के तारों पर टप्-टप् टूट रही बूँदों की कड़ियाँ!
आसमान है म्लान कहीं से सुनता हूँ भूपाली की गत ..
क्यों हैं ये दीवारें अधबिच? क्या था गत औ' कौन अनागत।

(२)

आधी जागृति, आधा सपना। मन में घुमड़न धूम मची रे
सरिता तट पर सिकता फैली, रजत चाँदनी नरम बिछी रे
गत उत्कट है, भूखी-सी, उस पार बज रही दूर नफीरी
उस गत में है बाट किसी की जोही गई व ठाठ अमीरी
मैं अपने सूने कमरे में मोटे ग्रथों में डूबा हूँ
जूझ रहा हूँ उस मस्तिष्क-प्रधान शिला से, कब ऊबा हूँ ?
क्या है 'प्रमा', और क्या 'मोनेड्स', क्या है यह
'अध्यास', 'प्रकृति'!
क्या फ़िख्टे की अलग धारणा ? ब्रडले की मान्यता विकृति ?
सब मरुभूमि प्राय लगते हैं बूढ़े, कुरूप ये दर्शन-गुरु
बिस्मिल्ला ही गलत, न करते हैं क्यों शुरूआत जीवन से ?
सुर्रू को तरुधारा ताज मृदगध, लोभान 'रु अगुरु
पुरुरवा मुझमें जागा है विवस्त्र ऊरु तिर रहे मन में...
'छि ' कोई आकर यों बोला 'छाया है यह क्षणिक-शरीरी'
फिर भी आन जुड़े थे ओठों से क्यों ओठ कभी वे शीरीं!

(३)

डाली-डाली पर कलियाँ हैं, उन्नत-भाल तमाल, चिर-हरे,
पर्ण-वर्ण-सचय, फव्वारे, युक्लिप्टस के पेड़ छरहरे,
उपवन ही ठहरा फिर क्यों न अनेकों होंगे वाँ खुश-चेहरे
पर इस चह-चह के पीछे है क्या कोई गहरे में 'वह' रे
जिसकी विफल अनत प्रतीक्षा में बैठा हूँ यों एकाकी
माली आता है, सुगध के रहने देता सुमन न बाकी।
रूप-गध का समा बँधा है, पर सब कुछ लगता जाली है
किसने पैठ यहाँ अतरतम की वह सच्चाई पाली है?
दूर दिशाएँ नहा रही हैं, झीना 'जीवन-पट' छोड़ा है
बुद्धि-भेद की सीमाएँ हैं, दृष्टि-ज्ञान थोड़ा थोड़ा है....
कब तक मगज मारता बैठूँ तुम से काट और बोजाके
तर्क घुला जाता है बाँके, उधड़ रहे सीने के टाँके....
जीवन धोखा है, तो हो, यह प्यार कभी जोखों से खाली ?
यह सब एक विराट व्यग है, मैं हूँ,सच,औ' चा की प्याली।

२२ बीसवीं सदी

बीसवीं सदी ने हमे क्या दिया ?
मोटर, रेल, विमान, क्रांतियाँ....
यह बेतार, सवाक् चित्रपट
कागज-मुद्रा आर्थिक-सकट
गति-अतिशयता, वेगातुरता....
कहीं प्रपीड़न, कहीं प्रचुरता!
इन सारे आविष्कारों ने
जग को उन्नत किस तरह किया
क्रय-विक्रय के सस्कारों ने
और आलसी हमे कर दिया।
बढ़ती शोषण-यन्त्र-क्रिया
बीसवीं सदी ने यही दिया ?
जब कि एक वाहन नवीन —,
आया, त्यों, हो उसमें सवार
कितने समझे निज-को कुलीन।
औ' श्रमिक विचारा मलिन-दीन
हो गया हमे ही नागवार।
इसको ही सस्कृति-प्रगति कहा ?
बीसवीं सदी ने यही दिया ?
जब कि किसी के घर अनेक—
जलते हों विद्युद्दीप, देख!
तब होगी ही कोई कुटिया
जिसमें जलता होगा न दिया!
बीसवी सदी ने यही दिया ?
उन्मूलित कर दी दान-दया!
जब रूस विश्व के साम्य-राज्य

को करता इतनी बड़ी बात,
तब भारत मे भी क्यों अनाज
भेजा ? यह तो है सिर्फ स्वार्थ !
बीसवी सदी ने यही दिया ?
मानव को मानव का भक्षण
मानव को निज-सरक्षण का
परवाना सबको बॉट दिया—
जीवन सघर्ष बढा यॉं तक
उस हाथ दिया, इस हाथ लिया !
देखा न पुण्य अथवा पातक,
जिसने मारा, बस वही जिया ।
बीसवीं सदी ने यही दिया ?
पूॅजी के युग का अस्तकाल,
यह है जब सुन लो यही हाल :
इक ओर पडेगा रे अकाल,
दूसरी ओर धन से बिहाल !
पूॅजीशाही के अन्तर्गत
बढता जायेगा जब विरोध
आदर्श हो चले सब स्वर्गत,
वास्तवता का जग पड़ा बोध,
सब का ही पर्दाफाश किया, बीसवीं सदी ने यही दिया ?

२३ कापालिक

कापालिक हॅसता है ।
पगले तू क्यो उसमे फॅसता है ? रे दुनियादारी !
यह महीन मलमल की सारी
उस के नीचे नरम गुलाबी चोली से ये कसे हुए
पीनोन्नत स्तन
यह कुकुम-अक्षत से चर्चित माथा, यह तन
किसी सुहागिन की अर्थी पर
बड़ी-बड़ी चोलोके मानों तीक्ष्ण चक्षु ये बसे हुए पर
जीवन यॉं सस्ता है
मरना यहॉं नही डॅसता है
कापालिक हॅसता है ।
मरघट
औघड़ का मठ
चट-चट-खट-खट जलती हड्डी-मज्जा, झटपट
कुत्ते भौंक रहे हैं, हो-हो —
स्यारों की यकसॉं चिल्लाहट, छीन औ' झपट !
नदी किनारा
डूब रहा है साय-तारा
चीख किसी पछी की चीं-चों
जिस के अंडो और घोंसले पर भूखे-से
किसी बाज ने छापा मारा ।
क्या यो इकटक देख रहे हो
सुन्दर सत्य तुम्हारा, वैसा
यही असुन्दर सत्य हमारा ।
परवशता है ।
और नदी की धारा मे भी, लो कृशता है,
मोह-छोह हमको ग्रसता है
कापालिक हॅसता है ।
यही प्यार की नाटक-भाषा
यही दिलजलों का न तमाशा !
मरी सुहागिन, दो दिन बीते
त्यो ही नये ब्याहकी आशा ?
पछी चीं-चीं कर थकने पर
पुन. नया तरु
नया-नया घर, नवीन कोटर
यही तुम्हारी प्रामाणिकता ?
जिसका अर्थ क्षणिकता ।
सिकता-सिकता•••केवल सिकता
किसने पाया है रे 'जीवन' ?
वह तो 'पारा' ।
यहॉं आज सब कुछ है बिकता
हृदय और ईमान, देवता !
सब ममता की यहॉं दिखावट
शून्य, खोखली और बनावट ।
सभी स्वार्थमय यहॉं बुलाहट,
किसने पाई सच्ची आहट•••
किसने जाना वह रस्ता है
किसने पाया वह रस्ता है
कापालिक केवल हॅसता है
अट्टहास करता है, ऑखे लाल-लाल
चहुॅ ओर डाल
हॅसता है
कापालिक केवल हॅसता है ।

रामविलास शर्मा

[शर्मा, रामविलास ; शिक्षा लखनऊ विश्वविद्यालय से पाई, वहीं अंग्रेजी साहित्य में डाक्टर की उपाधि प्राप्त की और फिर कुछ वर्ष अध्यापन भी किया। अब राजपूत कालेज आगरा में अध्यापक हैं।

रामविलासजी पहले आलोचक हैं, फिर कवि। कविता उन्होंने कम लिखी है, इसका कारण वे यह बताते हैं कि उसमे मेहनत पड़ती है, पर असल में कारण यही है कि उन्हें आलोचना का चसका है, और उसका अवसर पाकर वे लेखनी या मसी की प्रतीक्षा अनिवार्य नहीं समझते। मौखिक आलोचना और कटाक्षपूर्ण पदावली उनकी विशेषता है। हिन्दी को छोड़कर जब वे ठेठ मातृभाषा (बैसवाड़ी) को अपनाते हैं तब उनका यह अस्त्र और भी पैना हो जाता है। इसीलिए हिन्दी के पहलवान कवि-शिरोमणि निराला जी उन्हे बहुत मानते हैं। स्वस्थ देह के साथ स्वस्थ मन वाला ग्रीक आदर्श वे पूरा करते हैं या नही यह तो मनस्तत्व वेत्ता बताए, किन्तु उनका कण्ठ और उनकी वाणी खूब स्वस्थ और समर्थ हैं।

रामविलासजी की गद्य और पद्य रचनाएं अनेक पत्र-पत्रिकाओं में छपती रही हैं, दो आलोचना ग्रन्थ ('प्रेमचन्द' और 'भारतेन्दु-युग') प्रकाशित हो चुके हैं और तीसरा (निराला) छप रहा है।

—००:०:००—

वक्तव्य

कविता लिखने की ओर मेरी रुचि बराबर रही है लेकिन लिखा है मैंने कम। जिसे साहित्य-क्षेत्र में उतरना कहते हैं, वह मैंने कभी नही किया; साहित्य से एक पाठक का सपर्क रहने से कभी-कभी गद्य में लिखा करता था। ज्यो-ज्यो वह सपर्क बढता गया, त्यो-त्यों गद्य लिखना बढता गया। पद्य लिखना कम भी होता गया। जो व्यक्ति एक विकासोन्मुख साहित्य की आवश्यकताओं को चीन्हकर उनके अनुरूप गद्य लिखे, वह कवि हो भी कैसे सकता है। मेरे बहुत से लेख साहित्य के अ-शाश्वत सत्य, वाद-विवादो से पूर्ण हैं। कविता मे शाश्वत सत्यो की मैंने खोज की हो, यह भी दिल पर हाथ रखकर नहीं कह सकता।

पुस्तको से सपर्क होने के कारण अनेक कविताएँ ऐसी हैं जिनकी प्रेरणा पुस्तकों से मिली है। "दारा शिकोह" ऐसी ही कविता है। ऐतिहासिक विषयो पर कविता लिखना मुझे अच्छा लगता है। इसका छद रुबाई है और पक्ति का निर्माण घनाक्षरी की पक्ति को बीच से तोड़कर किया गया है। इस सोलह अक्षर की पक्ति में मैंने सानेट और ब्लैंकवर्स (अतुकात छद) लिखा है। और कई कविताएँ इस पक्ति को तोड़कर वर्णिक मुक्तछद मे लिखी गई हैं। एक दूसरे ढग का मुक्तछद मात्रिक है। दोनों ही प्रकार के मुक्तछद के आविष्कारक निराला जी हैं।

कुछ कविताओं में गाँव के दृश्यो का वर्णन है। बचपन गाँव के खेतों मे बीता है और वह सपर्क कभी नहीं छुटा। इस समय भी खिड़की के बाहर खेत दिखाई दे रहा है, जिस में कटी हुई ज्वार के ठूँठ ही रह गये हैं। सुनहली धूपमे कबूतर दाने चुग रहे हैं और थोड़ी दूर पर नहर का पुल पार करके किसान सिर पर बाजार के सामान का गट्ठर रखे घर लौट रहे हैं। मैं साधारणत. छ घटे काम करूँ तो खेतों के बीच मे रह कर दस घटे कर सकता हूँ। इन खेतो को प्यार करना किसी ने नही सिखाया। ये मेरे गॉव के खेत भी नही हैं, गॉव यहॉ से सैकड़ों मील दूर है। फिर भी, हिन्दुस्तान के जिस गाँव पर भी साँझ की सुनहली धूप पड़ती है, वह अपने गाँव जैसा ही लगता है। १९ वी सदी के रोमाटिक कवियों मे मुझे फ्रास के कवि इसीलिये ज्यादा पसद हैं कि उन्होंने इन खेतों को किसानों की तरह प्यार किया है। हिदी के नये कवियों मे मुझे केदारनाथ अग्रवाल भी इसी लिये ज्यादा पसद हैं कि उनकी रचनाओ में "भदेसपन" काफी है।

मेरी शिक्षा लखनऊ विश्वविद्यालय मे हुई और वहाँ मैं शिक्षक भी रहा हूँ। लेकिन कुछ दोस्तों का खयाल दुरुस्त मालम होता है कि विश्वविद्यालय की शिक्षा मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकी। स्वय शिक्षक होते हुए मैं अनुभव करता हूँ कि विश्वविद्यालयों और कालेजों की शिक्षा बनाती कम है, बिगाड़ती ज्यादा है। यह ऐसी शिक्षा है जो विद्यार्थियों और

जन-साधारण के बीच में आकर खड़ी हो जाती है। तुलसी के "भनिति भदेस" से उसे दूर कर देती है। इस वातावरण के विरुद्ध देशकी अन्य शक्तियां हैं जो युवकों को अपनी ओर खींचती हैं और निर्जीव प्रोफेसरो के बावजूद विद्यार्थियों को पढने और मनन करने के लिए यथेष्ट सामग्री मिल जाती है। ऐसा न हो तो इन विद्यालयों की ओर आंख उठा कर देखने की भी आवश्यकता न रहे।

मेरे आलोचनात्मक निबध पढ कर कुछ मित्रोंने—जिन्होंने मुझे कभी देखा न था—मेरे कल्पना चित्र बनाये थे। इन चित्रों मे, हो न हो, वे मेरी आयु ४०-४५ के लगभग आंकते थे और चेहरे पर भारी मूँछे और गभीरता की छाप भी उन्होंने कल्पित कर ली थी। शायद लेख लिखने समय मैं कुछ अपनेपन से बाहर चला जाता हूँ। इसलिये मित्र सही भी हो सकते हैं। पता नहीं कविता पढ कर अपरिचित मित्र मेरे बारे में किस तरह भी कल्पना करेंगे। मैं उन्हे एक बात का आश्वासन देना चाहता हूँ,—जैसे वे मेरी कविताओं के बारे में 'सीरियस' नहीं है, वैसे मैं भी नही हूँ। मैंने कई बार सोचा, प्रेम-सबन्धी कविताएँ भी लिखनी चाहिये लेकिन शायद एकाध बार से अधिक इस ओर रुझान नहीं हुआ। और जिसके हृदय मे प्रेम की नदी न बहे, वह कवि ही क्या?

एक बातका और विश्वास दिलाना चाहता हूँ, वात्स्यायन जी ने कविताओं के लिये परेशान कर डाला। नहीं तो कविता लिखने मे बड़ी मेहनत पड़ती है और उनकी नकल करने मे और भी ज्यादा। आशा है, यह प्रकाशन बस अतिम होगा।

---

१ कार्यक्षेत्र

धरती के पुत्र की,
होगी कौन-जाति, कौन मत, कहो कौन धर्म?
धूलिभरा धरती का पुत्र है,
जोतता है बोता जो किसान इस धरती को,
मिट्टी का पुतला है,
मिट्टी के चिर ससर्ग मे।
धरती के पुत्र के,
कितने ही मत और धर्म और जातियाँ हैं,
एकरस मटीलेपन मे,
छिपी है विभिन्नता, विचित्रता, विषमता विश्वकी।
रूढियो की, नियमों की, अस्पष्ट विचारों की,
सदियों के पुरातन मृत सस्कारो की,
चिन्हित हैं प्रेतरूप छायाएँ मटीले मुँह पर।
कुसस्कृत भूमि ये किसान की,
धरती के पुत्रकी,
जोतनी है गहरी दो चार बार, दस बार,
बोना महातिक्त वहाँ बीज असतोष का,
काटनी है नये साल फागुन में फसल जो क्राति की।

२ कवि

(१)

वह सहज विलबित मथर गति जिसको निहार
गजराज लाज से राह छोड़ दे एक बार,
काले लहराते बाल देव-सा तन विशाल,
आर्यों का गर्वोन्नत, प्रशस्त, अविनीत भाल,
झकृत करती थी जिसकी वाणी मे अमोल,
शारदा सरस वीणा के सार्थक सधे बोल,—
कुछ काम न आया वह कवित्व आर्यत्व आज,
सन्ध्या की वेला शिथिल हो गये सभी साज।
पथमे अब वन्य जतुओं का रोदन कराल।
एकाकीपन के साथी है केवल शृगाल।

(२)

अब कहां यक्ष-से कवि-कुल-गुरु का ठाटबाट?
अर्पित है कवि-चरणों मे किसका राजपाट?
उन स्वर्ण-खचित प्रासादो मे किसका विलास?
कविके अतःपुर मे किस श्यामा का निवास?
पैरो में कठिन बिवाई कटती नही डगर,
आखो मे आंसू, दुखसे खुलते नही अधर।

खो गया कहीं सूने नभ में वह अरुण राग,
धूसर सध्यामें कवि उदास है वीतराग ।
अब वन्य जतुओं का पथमें रोदन कराल ।
एकाकीपन के साथी हैं केवल शृगाल ।

(३)

अज्ञान-निशा का बीत चुका है अधकार,
खिल उठा गगन में अरुण,—ज्योति का सहस्नार ।
किरणोंने नभ में जीवन के लिख दिये लेख ,
गाते हैं वनके विहग ज्योतिका गीत एक ।
फिर क्यों पथ मे यह सध्या की छाया उदास ?
क्यों सहस्नार का मुरझाया नभ मे प्रकाश ?
किरणों ने पहनाया था जिसको मुकुट एक,
माथे पर वही लिखे हैं दुख के अमिट लेख ।
अब वन्य जतुओं का पथ मे रोदन कराल,
एकाकी पनके साथी हैं केवल शृगाल ।

(४)

इन वन्य जन्तुओं से मनुष्य फिर भी महान् ;
तू क्षुद्र मरण से जीवन को ही श्रेष्ठ मान ।
"रावण-महिमा-श्यामा-विभावरी-अन्धकार' ,—
छंट गया तीक्ष्ण वाणों से वह भी तम अपार ।
अब बीती बहुत रही थोड़ी, मत हो निराश,
छाया-सी सध्या का यद्यपि धूसर प्रकाश ।
उस वज्र-हृदय से फिर भी तू साहस बटोर,
कर दिये विफल जिसने प्रहार विधि के कठोर ।
क्या कर लेगा मानव का यह रोदन कराल ?
रोने दे यदि रोते है वन-पथ मे शृगाल ।

(५)

कट गई डगर जीवन की, थोड़ी रही और ,
इन वन मे कुश-कटक, सोने को नहीं ठौर।
क्षत चरण न विचलित हो, मुंह से निकले न आह ,
थक कर मत गिर पड़ना ओ साथी बीच राह ।
यह कहे न कोई—जीर्ण हो गया जब शरीर,
विचलित हो गया हृदय भी पीड़ा से अधीर ।
पथ मे उन अमिट रक्त-चिन्हों की रहे शान,
मर मिटने को आते है पीछे नौजवान ।
इस वन मे जहां अशुभ ये रोते हैं शृगाल,
निर्मित होगी जन-सत्ता की नगरी विशाल ।

३ चाँदनी

चाँदीकी झीनी चादर-सी
फैली है वन पर चांदनी ।
चाँदीका झूठा पानी है
यह माह-पूस की चांदनी ।
खेतो पर ओसभरा कुहरा,
कुहरे पर भीगी चांदनी ,
आँखों में बादल-से आँसू ,
हँसती है उन पर चांदनी ।
दुख की दुनिया पर बुनती है
माया के सपने चाँदनी ।
मीठी मुस्कान बिछाती है
भीगी पलकों पर चाँदनी ।
लोहे की हथकड़ियों-सा दुख,
सपनों सी झूठी चाँदनी ,
लोहे-से दुख को काटे क्या
सपनों-सी मीठी चांदनी ।
यह चाँद चुरा कर लाया है
सूरज से अपनी चांदनी ।
सूरज निकला, अब चाँद कहां ?
छिप गई लाज से चाँदनी ।
दुख और कर्म का यह जीवन,
वह चार दिनों की चाँदनी ।
यह कर्म-सूर्य की ज्योति अमर,
वह अंधकार की चांदनी ।

४ प्रत्यूष के पूर्व

दूर छिपा है भोर अभी आकाश मे,
पश्चिम मे धीरे धीरे पर डूबता
ठिठुरन से छोटा हो पीला चद्रमा,
धुधली है तुषार से भीगी चांदनी ।
सीत्-सीत् करती बयार है बह रही,
बरस रहा खेतों पर हिम-हेमंत है,
हरी-भरी बालो के भारी बोझ से,
मूर्च्छित हो धरती पर झुकी मोराइयाँ ।

बरगद के नीचे ही महफिल है जमी,
घुँघरू की छुम-छुम पर तबला ठनकता,
पेशवाज़ से सजी पतुरियाँ नाचतीं,
मीठी-मीठी सारगी भी बज रही ।
उड़ती गहरी गन्ध हवा मे इत्र की,
उजले धुले वस्त्र पहने बैठे हुए,
दारू का चल रहा दौर पर दौर है ।
कहते हैं, स्वामी जो थे इस भूमि के,
हत्यारों से वे अकाल मारे गये ।

सीत्-सीत् करती बयार है बह रही,
पौ फटने में अभी पहर भर देर है ।
बरगद से कुछ दूरी पर जो दीखता
ऊचा सा टीला, उस पर एकत्र हो,
ऊ चा मुहँ कर देख डूबता चद्रमा
हुआ-हुआ करते सियार हैं बोलते ।

५ कतकी

पिछला पहर रात का, पर आकाश में
छिटकी है अब भी चौदस की चाँदनी ;
बिना वृक्ष-झाड़ी के, घेरे क्षितिज को,
ऊसर ही ऊसर कोसों फैला हुआ ।
चला गया है उसे चीरता बीच से
गहरे कई लुढ़ों का गलियारा बड़ा,
कतकी का दर्रा, जिस पर हैं जा रहीं
घुँघरू की ध्वनि करती इस सुनसान में
पाँति बाँध कर धीरे-धीरे लाढ़ियाँ ।
उड़ते पीछे उजले बादल धूल के ।
तने हुए तबू भीतर पैरा बिछा,
सुखी बाल-बच्चे बैठे हैं ऊँघते,
गरम रजाई में निश्चिन्त किसान भी
बैठा बैलों की पगही ढीली किये ।
घुँघरू की मीठी ध्वनि करते जा रहे
फटी-पुरानी झूलें ओढ़े बैल वे,
पहचानते लीक हैं, पहले भी गये ।
स्वप्न देखते धीरे-धीरे आ रहे,
सकरघटो कर पार, जहाँ लहरा रही
सर्-सर् करती गगा की धारा, वहाँ
रंग-बिरगा कोलाहल करता बड़ा,
बालू पर मेला है एक जुड़ा हुआ ।

६ शारदीया

सोना ही सोना छाया आकाश में,
पश्चिम मे सोने का सूरज डूबता,
पका रग कचन जैसे ताया हुआ,
भरे ज्वार के भुट्टे पक कर झुक गये ।
'गला-गला' कर हाँक रही गुफना लिये,
दाने चुगती हुई गलरियों को खड़ी,
सोने से भी निखरा जिसका रग है,
भरी जवानी जिसकी पक कर झुक गई ।

७ मिलहार

पूरी हुई कटाई, अब खलिहान में
पीपल के नीचे है राशि सुघी हुई,
दानों भरी पकी बालों वाले बड़े
पूलों पर पूलों के लगे अरभ हैं ।
बिगही बरहे दीख पड़े अब खेत में,
छोटे-छोटे ठूँठ ठूँठ ही रह गये ।
अभी दुपहरी मे पर, जब आकाश को
चाँदी का सा पात किये, है तप रहा,
छोटा-सा सूरज सिर पर बैसाख का,
काले धब्बों-से बिखरे वे खेत में
फटे अँगोछों में, बच्चे भी साथ ले,
ध्यान लगा सीला चमार हैं बीनते,
खेत कटाई की मज़दूरी, इन्हीं ने
जोता बोया सींचा भी था खेत को ।

८ दिवा-स्वप्न

वर्षा से धुल कर निखर उठा नीला-नीला
फिर हरे-हरे खेतों पर छाया आसमान,

उजली कुँआर की धूप अकेली पड़ी हार में,
लौटे इस बेला सब अपने घर किसान।
पागुर करती छाहींमें, कुछ गभीर अधखुली आँखोंसे,
बैठी गायें करतीं विचार,
सूनेपन का मधु-गीत आम की डाली में,
गातीं जातीं मिल कर ममाखियाँ लगातार।
भर रहे मकाई ज्वार बाजरे के दाने,
चुगती चिड़ियाँ पेड़ों पर बैठीं भूल-भूल,
पीले कनेर के फूल सुनहले फूले पोले,
लाल-लाल झाड़ी कनेर की, लाल फूल।
बिकसी फूटें, पकती कचेलियाँ बेलों में,
ढो ले आती ठढी बयार सोंधी सुगन्ध,
अतस्तल में फिर पैठ खोलती मनोभवन के,
वर्ष-वर्ष से सुधि के भूले द्वार बद।
तब वर्षों के उस पार दीखता, खेल रहा वह,
खेल खेल मे मिटा चुका है जिसे काल,
बीते वर्षों का मैं, जिसको है ढँके हुए
गाढ़े वर्षों की छायाओं का ततु-जाल।
देखती उसे तब अपलक आँखे, रह जातीं
देखती उसे ही आँखे धर एकान्त ध्यान,
भूले अतीत का स्वप्न जागता, मिट जाता
सकुचित एक पल-सा हो फीका वर्तमान।
देखतीं उसे ही, भर आतीं आँखे, फिर पलकें
झँप जातीं, खो जाती छवि वह निराकार,
मैं रह जाता फिर प्रतिदिन-सा, प्रतिदिन-सा ही
गरजता अनागत का अगाध फिर अन्धकार।

९ दारा शिकोह

दिल्ली में उमड़ आया क्षुब्ध जन-पारावार,
राहुग्रस्त चन्द्र को भी देख कर उठा ज्वार;
दीन मदहीन एक हाथी पर राज्यहीन,
शाहंशाह भारत का दारा शुकोह था सवार।

छत्रहीन शीश पर आग-सा दुसह घाम;
पीठ पर मौत-सा औरगज़ेब का गुलाम,
चारों ओर त्रस्त जन-पारावार निस्सहाय,—
रुद्ध जनकठ में था अस्फुट-सा रामनाम।

तीर लिये, तेग लिये, हाथ मे लिये कमान,
सैनिक थे शासक थे,—हिंदू और मुसलमान,
लोहे के से पींजरे में फारस की बुलबुल-सा,
दारा वहाँ बैठा था अनाथ शिशुके समान।

मस्तक मुकुटहीन, हाथ मणिबन्धहीन,
कठमें पराजयका हार एक द्युतिहीन;
पाँव में जज़ीर और बदी पिता शाहजहाँ,
सम्राट् औरगज़ेब,—दारा ऐसा भाग्यहीन।

टूटा कुफ़ दारा का, अजेय रहा मुसल्मान।
विजय के साथ एक बाँदी मिली रूपवान।
भारतके, बाबरके, तख़्त पर, भाइयों के
रक्तसे लिखी गई औरगज़ेब की कुरान।

सोने का-सा देश वह गोलकुंडा, जहाँ शाह
शाहों का,—कुबेर-सा—, था शासक कुतुबशाह,
सोना वहाँ देवता था, काफिरोंका कुतुबका
आया वहाँ ग़ाज़ी, किया गोलकुडा को तबाह।

धर्मरत दारा, प्रिय पिता, पुत्र शीलवान,,
भारतके साधु और सूफ़ियों मे ज्ञानवान
सेवक ही बना रहा,—रोगी पिता शाहजहाँ,
दक्षिणसे जब चढा आता था मुसलमान।

समूगढ! भारत-सौभाग्य का कराल काल,—
राजा रामसिह और हाड़ापति छत्रसाल
खेत रहे, जहाँ एक बाग़ी खलीउल्ला ने
दाराका नमक देशद्रोह से किया हलाल।

"धन्य हिन्दू! स्वर्ग मे भी पाये पिता जलदान!
प्यासा रहे मुसलमान शाहशाह बेज़ुबान!"
आगरे में बोला बदी प्यासा पिता शाहजहाँ,
"धन्य हो सपूत! तुम्हीं पैदा हुए मुसल्मान!"

आगरा, लाहौर और सखर से सेहवान,
दारा और नादिरा ने छान डाले बियाबान,
कहा अत समय प्रिय पति से ये' नादिरा ने
"प्यारे! मुझे मिले पाक वही खाक हिंदुस्तान!"

दारा जैसे मित्रसे भी घात और दुर्व्यवहार,
मलिकके जीवन को लानत हज़ार बार ।
क़ैद हुआ दारा, उसे ले चला बहादुर खाँ,
सोती रही नादिरा, न टूटा ख्वाब एकबार ।

और अब दिल्ली मे अनाथ दारा, राज्यहीन,
बैठने को धूलिभरा हाथी मिला दीन-हीन ,
चारो ओर सैनिक हैं तेग लिये तीर लिये,
बीच में है त्रस्त बलि-पशु दारा भाग्यहीन !

रोते थे ग़रीब, दारा बैठा था झुकाए माथ,
बोला यों भिखारी एक,—"आज हो गये अनाथ!
दाता! दोनों हाथसे लुटाते थे भिखारियोंको,
आज ही क्या एक बार चला जाऊँ खाली हाथ?"

बैठा रहा दारा वही नीचे को झुकाये माथ,
ऊपर की ओर बिना देखे ही उठाया हाथ,
आखिरी निशानी एक चादर थी नादिरा की,
फेंक दी अनाथ ने ; भिखारी को किया सनाथ ।

व्यर्थ है पुकार और व्यर्थ है यह कुहराम,
खुदा को पुकारना है व्यर्थ लेना राम-नाम ,
घूमती है लाश अभी नगर मे चारों ओर
किन्तु इतिहास में है दारा का अमर नाम।

शांत हुई दिल्ली और शात जन-पारावार ,
दक्षिण मे किन्तु उठा झंझावात दुर्निवार ,
धूलिसे दिशाएँ ढकीं, धूलिभरा आसमान ,
दिल्ली पर छा गया प्रलयका-सा अन्धकार ।

काँप उठा सिंहासन, काँप उठा शाहशाह,
फूट पड़ा ज्वालामुखी जहाँ उसे मिली राह !
काँप उठी भाइयों के रक्त मे रँगी कटार
जागी प्रतिहिंसा और शासन की नयी चाह !

उत्तर से उठी घटा, काल हुआ आसमान ,
दासी-पुत्र बना राजद्रोही पिता के समान,
टूटे चूर शासन के ; दारा का रुधिर लिए
प्रेत सा जगाता रहा "गाज़ी" दिल्ली का मसान ।

१० गुरुदेव की पुण्यभूमि

यह शस्य श्यामला वसुंधरा है, जिसे देखकर
कविने मनमे स्वर्ग रचा था सुन्दर ।
यह पुण्यभूमि है, जिसे देखकर
आन्दोलित हो उठता था कविका भावाकुल अंतर ।
वे भरे धानके खेत यही थे, जिन्हें देखकर
साँझ-सबेरे, फूटे थे कविके स्वर ।

इस बंग-भूमिसे ही जगको संदेश दिया था
कविने,—"अजर अमर है मानव-जीवन !"
इस बंग-भूमिसे कविने घोषित किया—
"क्षुद्र है मानव द्वारा, मानव का उत्पीड़न !"
बर्बर फासिस्तवाद को यही चुनौती दी ,
साम्राज्यवाद से युद्ध किया आजीवन !

इस शस्य-श्यामला वसुन्धरा पर
क्रूर प्रेत-सी घिर आई किस विभीषिका की छाया ,
उस अजर अमर जीवन पर यह विनाश की छाया,
किसकी दारुण सर्वग्रासिनी माया ,
इस पुण्यभूमि मे तीस हजार युवतियों ने
क्यों वेश्यालयमे जाकर आश्रय पाया ?

उन भरे धानके खेतों में दिनरात भूख,
बस भूख महामारी का आकुल क्रन्दन !
हड्डी हड्डी में सुलग रही है आग भूख की ,
सुलग रहा है भीतर-भीतर रक्तहीन मानव तन ;
पट गया अधजली लाशों से कविगुरु का प्रिय
यह हरा-भरा नन्दन वन !

भाई-भाई से जुदा चितापर लड़ते हैं
भाई-भाई, दो भीरु श्वान-से कायर !
लाखों की रकमे काट रहे हैं, काट रहे हैं
गले करोड़ो के, छिप छिपकर कायर !
सिर पर सरकार मौत-सी बेदम बैठी है,
चुपचाप मौत-सी पस्त निकम्मी कायर !

कायर, वह जो नेता बनता था, चला गया,
मिल गया लुटेरों की सेना मे, कायर ।
कायर, जो भी मुहँ देख रहा हो,
चीनी जनताके बर्बर हत्यारो का, वह कायर ।

लाखों को मरते देख रहा है
धरे हाथ पर हाथ नपुंसक नौजवान, वह कायर।

वह पुण्यभूमि है मानवता के कविगुरु की,
प्राचीन तपोवन-सी ही सुन्दर, पावन !
वलिदान त्याग की भूमि,—
अभी निःस्वार्थ युवक हैं, जीवित है अब भी
सामाजिक जीवन।

हड्डी हड्डी है चूर, जला सब खून ,
अडिग है फिर भी सूखे तन मे इस्पाती मन !
दानवने आज चुनौती दी है नवयुवकों को,
"आओ, यह पहाड़-सा भार उठाओ !
दुर्भिक्ष महामारीसे, दुष्ट लुटेरों से,
आओ यह अपना प्यारा देश बचाओ।'
ऐ नौजवान भारत के !
गरम लहू को आज चुनौती है ; सब मिलकर
भार उठाओ !

दिन-रात यही हैरानी, भूली भूख-प्यास,—
वीरान न हो यह प्यारा शांति-निकेतन !
यह हरा-भरा बगाल !
न योंही उजड़ जाय इस भूख महामारीसे
शांति-निकेतन !
उस नीच नगूचो को न मिले यह रवि ठाकुर का,
प्राणों से भी प्यारा शाति निकेतन !
बगाल, कसौटी देशभक्तिकी,
आज-यहीं पर केंद्रित है सारे भारत का जीवन।
बगाल देश का सिंहद्वार !
प्रहरी है केवल मृत्यु, और जनता करती है अनशन !
बगाल चिता पर जलता है !
क्या बचा रहेगा देश ? बचेगा किस स्वार्थी का जीवन ?

११ जल्लादकी मौत

(एक सोवियत चित्र पर)

जलता था जब रूसी घर ;
जलते थे खलिहान खेत जब
मिलें और टूटे छप्पर ;
बढ़ता था जब टिड्डी-दल,
नाजी हत्यारों का दल,—
"फिर आयेंगे"—
कहता था तब लाल सिपाही ,
"ओ हत्यारो ! फिर आयेंगे !"—
मन मसोसकर कहता था यह लाल सिपाही,
बढ़ता था जब टिड्डी-दल,
जलता था जब रूसी घर !
रूसी बच्चों के हत्यारो,
ओ किसान-मजदूर औरतों को बेइज्जत करनेवालो,
लाल सिपाही फिर आता है,
वही कौल पूरा करने को।
सोचा था जिस क्रूर हृदयने
लूट और व्यभिचार और हत्या का हम
त्योहार मनायें।
उसी हृदय मे आज लाल सगीन चुभेगी,
निकलेगी तेरे उस क्रूर हृदय से बाहर,
निर्दयता, बर्बरता, तेरा हत्यारापन,
लाल रक्त की धारा बन कर।
देख, लौट आया है तेरा काल
रूसका लाल सिपाही !
ओ जल्लाद ! कहां है अब तेरा साथी टिड्डी-दल ?
तू होगा बर्बाद
जहां कल छोड़ गया था तू जलते मज़दूरों के घर।
जलता था जो कल रूसी घर,
वहीं बनेगा एक नया घर,
पहले से भी मनहर-सुन्दर।
लेकिन आज,
गिरेगा तुझ पर बनकर गाज,
रूसी इनकलाब का घन
रूसी मज़दूरों का घन,
स्तालिन का फौलादी घन।
जलता था कल रूसी घर,
आज वहां पर जलता है फासिस्त और
नाजी बर्बर
एक नया घर वहीं बनेगा
पहले से भी बड़ा और उससे सुन्दर !

१२ सत्यं शिवं सुन्दरम्

हाथी घोड़ा पालकी,
जै कन्हैया लाल की ।
हिन्दू हिन्दुस्तान की
जै हिटलर भगवान् की ।
जिन्ना, पाकिस्तान की
टोजो और जापान की
बोलो वन्देमातरम् !
सत्य शिव सुन्दरम् ।
हिन्दुस्तान हमारा है,
प्राणों से भी प्यारा है ।
इसकी रक्षा कौन करे ?
सेंत-मेंत मे कौन मरे ?
पाकिस्तान हमारा है,
प्राणों से भी प्यारा है ।
इसकी रक्षा कौन करे ?
बैठो हाथ पै हाथ धरे !
गिरने दो जापानी बम !
सत्य शिव सुन्दरम् ।
शुद्ध कला के पारखी,
कहते हैं उस पार की ।
इस दुनिया की कौन कहे ?
भव-सागर मे कौन बहे ?
जै हो राधारानी की
या जिसने मनमानी की
राधा या अनुराधा से,
छिप कर अपने दादा से !
कैसी बढिया चाल की,
बलिहारी गोपाल की !
उसके भक्तो मे से हम ।
सत्य शिव सुन्दरम् ।
जै हो सदा बहार की,
शायर या ऐयार की
तुरबत में भी आहट से,
उठ कर बैठ गया झट से !
गुल और बुलबुल की औलाद,
करता रहता है फ़र्याद ।
धीमी-धीमी सुर मे नाद,
इन्कलाब जिन्दाबाद !
गम से भर आता है दिल !
दिल वह भी शायर का दिल
जिसमें शुद्ध भरा है गम !
सत्य शिव सुन्दरम् ।

+ +

हिन्दी हम चालीस करोड़,
क्यों बैठे हैं साहस छोड़ ?
देश हमारा हिन्दुस्तान,
लाखों ही मज़दूर-किसान ।
इस धरती पर बसने वाले,
उसके हित मर मिटने वाले
क्या भागेंगे ताबड़तोड़,
हिन्दी हम चालीस करोड़ ?
यह आज़ादी का मैदान,
जीतेंगे मजदूर-किसान ।
एक यही है राह सुगम,
सत्य शिव सुन्दरम् ।
आज बढ़ेंगे साथ कदम
निश्चय विजयी होंगे हम
गिरने दो जापानी बम ।
बोलो बन्दे मातरम् !

१३ हड्डियों का ताप

कंकाल,
हड्डियों के रक्तहीन मांसहीन कंकाल ,
मांसल बलिष्ठ नहीं भुजाएँ, रक्ताभा नहीं है कपोलों पर,
परतन्त्र देश के युवक हैं !
कहां है जीवन ? कहां है चिरंतन आत्मा ?
हड्डियों का संघर्षण जीवन है,
हड्डियों में बसा हुआ ताप ही,
आत्मा है ।
युग के ये नर-कंकाल,
हड्डियों के ताप से अशांत हैं ।
गालों की सूखी हुई हड्डियों मे,

धँसी हुई आँखों की पुतलियों मे,
बसी है भावना विद्रोह की।
बढ़ते हैं नर-कंकाल, नवयुवक,
खड़ी जहाँ सेना परतन्त्रता की, मृत्यु की,
भूख की, दु सह अपमान अत्याचार की।
काली-काली भीम-मूर्ति छायाएँ,
छायाएँ,
विजय नहीं पायेगी,
जीवित हैं हम नर-कंकाल !
जलती है ज्वाला एक हड्डियों के ढाँचों मे।
फैला कर लम्बी सूखी उ गलियों को,
छिन्न-भिन्न कर देंगे काली छायाओं को,
—निर्मोह युद्ध में,—
नर-मांसाहारी इन मृत्यु की वीभत्स छायाओं मे।
मुक्ति देंगे जीवन को मृत्यु के पाश से,
जन्म होगा हड्डियों के ढाँचों से
रक्ताभ मांसल शरीर का,
हड्डियों मे बसे हुए ताप से,
चिरतन आत्मा का,
जन्म होगा नर-कंकालो से,
सबल स्वतन्त्र नवयुवकों की सेना का।

१४ किसान-कवि और उसका पुत्र

नीले रँग में डूब गया सारा नभ-मडल,
पूर्व दिशा मे उठे घने दल के दल बादल।
लहराती पुरवाई के झोंकों पर आये,
धूल भरे लू से झुलसे खेतों पर छाये।
आमों की सुगन्ध से महक उठी पुरवाई,
पिउ-पिउ के मृदु रव से गूँज उठी अमराई।
जग के दग्ध हृदय पर गह-गह बादर बरसे,
डह-डह अकुर फूटे वसुधा के अन्तर से।
बह न जाय जीवन अपार सीमा से बाहर,
मेड़ बाँधता है किसान खेतों मे जाकर।
यह असाढ़ का पहला दिन, ये काले बादल,
लू से झुलसे हाड़ों को करते हैं शीतल।
टपक रहा है टूटा घर, खटिया टूटी है,
एक यहाँ मनचाही सुख की लूट नहीं है।
भरे तराई-ताल, नदी-नाले उतराये,
आता है सैलाब, गाँव जिसमें बह जाये।
दीवारों को फिर मिट्टी से छोप-छाप कर,
बचा सकेगा कौन भला ये टूटे खँडहर ?
हरे-हरे तरु-पात, जमे अकुर ऊसर में,
उमड़ रहा है जल अपार जीवन सरि-सर में।
फिर भी उल्कापात एक उस तरु पर केवल,
वन के सब वृक्षों में था जिसका मीठा फल।
छार-छार हो गये पात सब वज्रपात से,
वह पछी उड़ गया, हाय, उड़ गया हाथ से !
यह वर्षा की ऋतु, ढेलों में जीवन फूटा,
जिनमें वज्र हड्डियों का वह ढाँचा टूटा।
वर्षा की ऋतु,—डोली फिर वन मे पुरवाई,
पुरवाई के साथ मृत्यु भी उड़ती आई।
बरस रहा है जब वन में खेतों में जीवन,
किसने किया इन्ही खेतों में प्राण-विसर्जन ?
किसकी मिट्टी पर यह खेतों की हरियाली ?
किसके लाल लहू की फागुन मे यह लाली ?
ओ मेरे साथी ! मेरे जाने-पहचाने !
वज्र हड्डियों से बन गये अन्न के दाने !
साथी अपनी छोड़ गया था एक निशानी,
साथी से ज्यादा है उसकी करुण कहानी।
वह सूने वन में आशा का फूल खिला था,
सूने वन को उस तरु का वरदान मिला था !
प्रतिभा का वह फूल, किसी अज्ञात दिशा में,
धूमकेतु-सा खिला और छिप गया निशा में।
चन्द्रहीन है अमा निशा का जल-सा तम है।
दुख का पारावार अकूल अथाह अगम है।
अनजानी है राह, न साथी आज पास है।
एक नियति का पीछे कर्कश अट्टहास है।
यह मानव का हृदय क्षुद्र इस्पात नहीं है।
भय से सिहर उठे वह तरु का पात नहीं है।
रेत और पानी से बन जाते हैं पत्थर,
हृदय बना है आग और आँसू से मिल कर।
फिर भी सूनी धूप देख कर तरु-पातों पर,
कहीं विलम जाता है मन बिसरी बातों पर।
कहीं हृदय के सौ इस्पाती घधन टूटे ;

कहीं व्यथा के स्रोत हृदय मे फिर से फूटे ।
दुख का पारावार उमड़ आया आँखों में,
यह जीवन की हार नहीं छिपती आँखों में ।
मेरी अध निराशा का यह गीत नहीं है ।
मन बहलाने को मोहक सगीत नहीं है ।
जीवन की इस मरण-व्यथा को सहना होगा,
अतर में यह व्यथा छिपाये रहना होगा ।
काल-रात्रि में चार प्रहर अविराम जागरण !
यही व्यथा का पुरस्कार है, अति साधारण !
बँध न सकेगा लघु सीमाओं मे लघु जीवन ;
लघु जीवन से अमर बनेगा बहु-जन-जीवन !
अडिग यही विश्वास, क्षुद्र है जीवन चचल ,
अनजानी है राह , यही साहस है सबल ।
यह मानव का हृदय क्षुद्र इस्पात नहीं है ।
भय से सिहर उठे वह तरु का पात नहीं है ।

१५ समुद्र के किनारे

सागर लम्बी साँसे भरता है,
सिर धुनती है लहर-लहर ,
बूँदी-बादर में एक वही स्वर
गूँज रहा है हहर-हहर ।
सागर की छाती से उठ कर
यह टकराती है कहाँ लहर ?
जिस ठौर हृदय में जलती है
वह याद तुम्हारी आठ पहर ।
बस एक नखत ही चमक रहा है
अब भी काली लहरों पर,
जिसको न अभी तक ढँक पाये हैं
सावन के बूँदी-बादर ।
यह जीवन यदि अपना होता
यदि वश होता अपने ऊपर,
यह दुखी हृदय भी भर आता
भूले दुख से जैसे सागर ।
वह छुप गया चचल तारा
जो चमक रहा था लहरो पर,
सावन के बूँदी-बादर में
अब एक वही स्वर हहर-हहर ।
सागर की छाती से उठ कर
यह टकराती है कहाँ लहर ?
जिस ठौर नखत वह बुझ कर भी
जलता रहता है आठ पहर ।
सागर लम्बी साँसें भरता है
सिर धुनती है लहर-लहर,
पर आगे बढ़ता है मानव
अपनेपन से ऊपर उठ कर ।
आगे सागर का जल अथाह
ऊपर हैं नीर-भरे बादर,
बढ़ता है फिर भी जन-समूह
जल की इस जड़ता के ऊपर ।
बैठा है कौन किनारे पर,
यह गरज रहा है जन-सागर,
पीछे हट कर सिर धुन कर भी
आगे बढ़ती है लहर-लहर ।
दुख के इस हहर-हहर मे भी
ऊँचा उठता है जय का स्वर ,
सीमा के बधन तोड़ रही है
सागर की प्रत्येक लहर ।

१६ विश्व-शांति

शिशिर की साँझ यह,
छाई हरे खेतों पर, ठढी ओस लिये धूलि-भरे
गलियारों पर,
लौट आये थके माँदे घर को सभी किसान ।
नगर की गलियों मे
काला-काला धूआँ छाया दबा हुआ ओस से ।
लहू की बूँदों-से
जलते हैं बिजली के बल्ब सूनी सड़कों पर,—लाल, लाल।
शिशिर की रात यह निश्चित,
निद्रित हों जन मानों दीर्घ कालरात्रि में ।
कुहरे से मुँदे हुए,
ईश के सुवर्ण सिंहासन के पार्श्व से,
उड़ चले पुष्पक-विमान पृथिवी की ओर !
करते हैं पुष्प-वृष्टि,
नष्ट करते है नर-सृष्टि, कर अग्नि-वृष्टि

दुर्दम नृशंस आततताइयों के ध्वंसकारी वायुयान !
हरे-हरे खेतों के,
काले-काले लोहे के कल-कारखानों के,
नीचे कहीं दबा था भूकंप एक चुपचाप !
तोड़ कर स्तब्धता सुदीर्घ कालरात्रि की,
फैल गया चीत्कार प्राणियों का वनमें, नदी के तीर !
शिशिर की ओस-भरी ठंडी रात,
लाल हुआ लपटों से आसमान !
अग्नि विद्रोह की,
तोड़ कर क्षमाशील पृथिवी के वक्ष को,
सहस्रों शिखाओं में, उठी है गगन में, सुवर्ण
सिंहासन ओर ।
मज्जा और मांस से सने हुए मसान में
प्रज्ज्वलित चिता की लपटों में,
अविनश्वर लिखी है शांति संसार की ।

१७ कलियुग

सतयुग, त्रेता, फिर द्वापर औ' कलियुग,
अंतिम हमारा युग,
निंदित पुराणों में, शास्त्रों में, काव्यों में,
अवांछित आदि युग से यह अधम युग ,
सतयुग, त्रेता और द्वापर के कृमि-कीट
विकसित हुए जब पिछले युग मे,
महामान्य पूर्वजों, महर्षियों, सम्राटों की,
वासना की बूँदे वे,
बढ कर बनीं आज गंभीर जल-राशि,—
विषाक्त कर्दममय जल-राशि !
युग-युग निंदित अधम यह कलियुग,
यही है हमारा युग ;
चेतना की किरणें सिमट कर एक साथ,
छिन्न करने को जड़ जल-स्तर, सक्रिय सचेष्ट हैं,
नष्ट करने को सतयुग ही के पुरातन कृमि-कीट ।
विशाल सक्रियता,
यही है हमारा युग ।
विषाक्त जलधि के हृदय में,
फूट कर धीरे-धीरे उठ रहा मुक्ति का कमल वह,
खिलेगा जो एक दिन काले जल-तल पर,
नव अरुणाभा में,—नव सतयुग के प्रकाश में ।

१८ परिणति

दुखकी प्रत्येक अनुभूति में,
बोध करता हूँ कहीं आत्मा है
मूल से सिहरती प्रगाढ अनुभूति में ।
आत्मा की ज्योति में,
शून्य है न जाने कहाँ छिपा हुआ
गहन से गहनतर,
दुख की सतत अनुभूति में,
बोध करता हूँ एक महत्तर आत्मा है,
निविड़ता शून्य की विकास पाती उसी भाँति,—
सक्रिय अनंत जल राशि से
कटते हों कूल ज्यों समुद्रके ।
एक दिन गहनतम इसी अनुभूति में
महत्तम आत्मा की ज्योति यह
विकसित पायेगी चिर परिणति महाशून्य में ।

१९ तूफान के समय

क्षितिज से उठकर,
विषैले बादलों में सनसनाता आता है तूफान ,
झुलसती कोटरों में चिड़ियाँ, टहनियाँ पेड़ों की !
झुका लूँगा शीश तब,
उड़ाये झुलसायेगा जब तूफान यह रूखे-सूखे बालों को ।
शीश पर सह लूँगा
वेग सब प्रकृति के विकृत तूफान का ।
कड़कती उल्का आकाश में
विचलित करती है मानव में अन्तर्हित ज्योतिको ।
बढ़ूँगा आगे और
शांत होगा, जब विष-वातावरण ,
अथवा यों शीश झुका,
खड़ा हुआ अचल, एकांत स्थलपर,
देखूँगा भस्मसात् होती है कैसे वह अन्तर्ज्योति,
पाता है जय कैसे,
मानवपर यह विकृत प्रकृतिका तूफान ।

'अज्ञेय'

['अज्ञेय' : वास्तविक नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन , जन्म मार्च १९११ में एक शिविर में हुआ। "तभी से आवारगी की छाप पड़ी हुई है" और धाम पूछने पर प्रायः उत्तर मिलता है, "रेलगाड़ी में"। बचपन लखनऊ, काश्मीर, बिहार और मद्रास में बीता ; शिक्षा मद्रास और लाहौर में पाई। किन्तु साहित्य के साथ साथ बमबाज़ी और विषैले रसायनों का अध्ययन भी करते रहे। "बाद में इन विषयों का कुछ अभ्यास भी किया"; फिर कुछ महीने पुलिस के साथ चोर-छिपौवल करके नवम्बर १९३० में 'मुहम्मद बक्श' नाम से पकड़े जाकर एक महीना लाहौर किले में और साढ़े तीन साल दिल्ली और पजाब की जेलों मे बिताया। फिर दो मास किले मे और दो वर्ष नज़रबन्दी में। उसके बाद कुछ महीने आगरे ('सैनिक') मे, डेढ़ वर्ष कलकत्ते ('विशालभारत') में। फिर मेरठ में साहित्य-परिषद् स्थापित करने के लिए उद्योग किया ; बाद में "शान्ति-निकेतन जाते हुए दिल्ली रुका तो वही रह गया ; 'आल इण्डिया रेडियो' में अढाई वर्ष शब्द-विग्रह के बाद त्याग-पत्र देकर जान छुड़ाई और अब खाकी पहन कर मच्छर मारता हूँ—असमीया मच्छर देशी मक्खी के बराबर तो होते ही हैं।"

लिखा काफी, पर 'सब का सब छपने से बचाया नहीं जा सका। भग्नदूत, विपथगा, शेखर, चिन्ता,—ये छप गए ; दो एक और पुस्तकों के शीघ्र छपने की आशका है—त्रिशकु, कहानी-सग्रह, निबन्ध और शायद अंग्रेजी कविता का एक सग्रह। शायद यों कि दो-एक वर्ष पाण्डुलिपि के प्रेस में अड़े रहने के बाद आशका बहुधा टल जाया करती है और पाण्डुलिपियाँ लौट आती हैं।'

रुचि बहुत-सी चीजों की ओर है , "खास कर उन सब बातों में जिनसे तत्काल कोई वास्ता न हो। वैसे चित्रकला, मूर्तिकला, फोटोग्राफी, मनोविश्लेषण और डाक्टरी का खब्त है, या फिर नदी-नालों और पहाड़ी झीलों के आस-पास भटकने का। अकेले रहने का आरम्भ से ही कुछ अधिक अभ्यास है ; फलतः प्राय. लोगों के बीच में भी अकेला रह जाता हूँ, जिससे सब नाराज़ हैं और 'घनिष्ठ मित्र' कोई अपने को नहीं समझता। सभा-समाजों में सिट्टी भूल जाता हूँ, जिससे कृपालु लोग 'गम्भीरता' समझते हैं और शेष लोग अहंकार। कृपालु लोगों का अल्प-मत है।"]

वक्तव्य

कविता ही कवि का परम वक्तव्य है ; अतः यदि कविता के स्पष्टीकरण के लिये स्वय उसके रचयिता को गद्य का आश्रय लेकर कुछ कहना पड़े तो साधारणतया इसे उसकी पराजय ही समझना चाहिए। किन्तु मानव-जीवन के विकास के साथ-साथ उसकी जटिलता इतनी बढ़ी है कि इस प्रकार का आत्म-स्पष्टीकरण वांछनीय हो गया है। क्यों ? इसका कारण है।

कवि का कथ्य उसकी आत्मा का सत्य है। (यह एक गोल-सी बात है, अतः इसके सत्य होने की सम्भावना काफी है !) यह भी कहना ठीक होगा कि वह सत्य व्यक्तिबद्ध नहीं है, व्यापक है, और जितना ही व्यापक है उतना ही काव्योत्कर्षकारी है। किन्तु यदि हम यह मान लेते हैं, तब हम 'व्यक्ति-सत्य' और 'व्यापक सत्य' की दो पराकाष्ठाओं के बीच में उसके कई स्तरों की उद्भावना करते हैं, और कवि इन स्तरों में से किसी पर भी हो सकता है।

और आज इसी की सम्भावना अधिक है कि कवि इन बीच के स्तरों में से किसी एक पर हो। 'व्यापकता' वैसे भी सापेक्ष्य है , जीवन की बढती हुई जटिलता के परिणाम-रूप 'व्यापकता' का घेरा क्रमश. अधिकाधिक सीमित होना चाहता है।

एक समय था जब कि काव्य एक छोटे-से समाज की थाती था। उस समाज के सभी सदस्यों का जीवन एकरूप होता था, अतः उनकी विचार-सयोजनाओं के सूत्र भी बहुत कुछ मिलते जुलते थे—कोई एक शब्द उनके मन मे प्राय समान चित्र या विचार या भाव उत्पन्न करता था। इसका एक सकेत इसी बात में मिलता है कि आचार्यों ने काव्य-विषयों का वर्गीकरण सम्भव पाया, और कवि को मार्ग-दर्शन करने के लिए बता सके कि अमुक प्रसग में अमुक-अमुक वस्तुओं का वर्णन या चित्रण करने से सफलता मिल सकेगी ! आज यह बात सच नहीं रही। आज काव्य के पाठकों की जीवन परिपाटियों में घोर वैषम्य हो सकता है , एक

ही सामाजिक स्तर के दो पाठकों की जीवन-परिपाटियाँ इतनी भिन्न हो सकती हैं कि उनकी विचार-सयोजनाओं में समानता हो ही नहीं, ऐसे शब्द बहुत कम हों जिनसे दोनों के मन मे एक ही प्रकार के चित्र या भाव उदित हों।

यह आज के कवि की सब से बड़ी समस्या है। यों समस्याएँ अनेक हैं—काव्य-विषय की, सामाजिक उत्तरदायित्व की, सवेदना के पुन.सस्कार की, आदि—किन्तु उन सब का स्थान इसके पीछे है, क्योंकि यह कविकर्म की ही मौलिक समस्या है, साधारणीकरण और Communication (निवेदन) की समस्या है। और कवि को प्रयोगशीलता की ओर प्रेरित करने वाली सब से बड़ी शक्ति यही है। कवि अनुभव करता है कि भाषा का पुराना व्यापकत्व उसमें नहीं है—शब्दों के साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ हम उसमे भरना चाहते हैं, पर उस बड़े अर्थ को पाठक के मन मे उतार देने के साधन अपर्याप्त हैं। वह या तो अर्थ कम पाता है या कुछ भिन्न पाता है।

प्रयोग सभी कालों के कवियों ने किये हैं, यद्यपि किसी एक काल मे किसी विशेष दिशा में प्रयोग करने की प्रवृत्ति होना स्वाभाविक ही है। किन्तु कवि क्रमश. अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए हैं, उनसे आगे बढ कर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिए जिन्हें अभी नहीं छुआ गया, या जिनको अभेद्य मान लिया गया है। भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम सकेतों से, अकों और सीधी-तिरछी लकीरों से, छोटे-बड़े टाइप से, सीधे या उलटे अक्षरों से, लोगों और स्थानों के नामों से, अधूरे वाक्यों से—सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई सवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके। पूरी सफलता उसे नहीं मिली—जहाँ वह पाठक के विचार-सयोजक सूत्रों को नहीं छू सका, वहाँ उसे पागल प्रलापी समझा गया, या अर्थ का अनर्थ पा लिया गया। बहुत-से लोग इस बात को भूल गए कि कवि आधुनिक जीवन की एक बहुत बड़ी समस्या का सामना कर रहा है—भाषा की क्रमश सकुचित होती हुई सार्थकता की केंचुल फाड़ कर उसमे नया, अधिक व्यापक, अधिक सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है—और अहकार के कारण नहीं, इसलिए कि उसके भीतर इसकी गहरी माँग स्पन्दित है,—इसलिए कि वह 'व्यक्ति-सत्य' के 'व्यापक सत्य' बनाने का सनातन उत्तरदायित्व अब भी निबाहना चाहता है पर देखता है कि साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियाँ, जीवन के ज्वालामुखी से बह कर आते हुए लावा से ही भर कर और जम कर रुद्ध हो गई हैं, प्राण-सचार का मार्ग उनमें नहीं है।

जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी सम्पूर्णता मे पहुँचाया जाय—यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है। इसके बाद इतर समस्याएँ हैं—कि वह अनुभूत ही कितना बड़ा या छोटा, घटिया या बढिया, सामाजिक या असामाजिक, ऊर्ध्व- या अध - या अन्त - या बहिर्मुखी है, इत्यादि।

(२)

मैं 'स्वान्त सुखाय' नहीं लिखता। कोई भी कवि केवलमात्र 'स्वान्त सुखाय' लिखता है या लिख सकता है, यह स्वीकार करने मे मैंने अपने को सदा असमर्थ पाया है। अन्य मानवों की भाँति अह मुझ में भी मुखर है, और आत्माभिव्यक्ति का महत्व मेरे लिए भी किसी से कम नहीं है, पर क्या आत्माभिव्यक्ति अपने-आप में सम्पूर्ण है ? अपनी अभिव्यक्ति—किन्तु किस पर अभिव्यक्ति ? इसीलिए 'अभिव्यक्ति' में एक ग्राहक या पाठक या श्रोता मैं अनिवार्य मानता हूँ, और इसके परिणाम-स्वरूप जो दायित्व लेखक या कवि या कलाकार पर आता है उससे कोई निस्तार मुझे नहीं दीखा। अभिव्यक्ति भी सामाजिक या असामाजिक वृत्तियों की हो सकती है, और आलोचक उसका मूल्याकन करते समय ये सब बातें सोच सकता है, किन्तु वे बाद की बातें हैं। ऊपर प्रयोगशीलता को प्रेरित करने वाली जो अनिवार्यता बताई गई है, अभी तो उसी की सीमाओं की ओर सकेत करना चाह रहा हूँ। ऐसा प्रयोग अनुल्लेय नहीं है जो 'किसी की किसी पर अभिव्यक्ति' के धर्म को भूल कर चलता है। जिन्हें बाल की खाल निकालने में रुचि हो, वे कह सकते हैं कि यह ग्राहक या पाठक कवि के बाहर क्यों हो—क्यों न उसी के व्यक्तित्व का एक अश दूसरे अश के लिए लिखे ? अह का ऐसा विभागीकरण अनर्थहेतुक हो

सकता है ; किन्तु यदि इस तर्क को मान भी लिया जाय तो-भी यह स्पष्ट है कि अभिव्यक्ति किसी के प्रति है और किसी की ग्राहक (या आलोचक) बुद्धि के आगे उत्तरदायी है। जो (व्यक्ति या व्यक्ति-खण्ड) लिख रहा है, और जो (व्यक्ति या व्यक्ति-खण्ड) सुख पा रहा है, वे हैं फिर भी पृथक्। भाषा उनके व्यवहार का माध्यम है, और उसकी माध्यमिकता इसीमें है कि वह एक से अधिक को बोधगम्य हो, अन्यथा वह भाषा नहीं है। जीवन की जटिलता को अभिव्यक्त करने वाले कवि की भाषा का किसी हद तक गूढ़, 'अलौकिक' अथवा दीक्षा द्वारा गम्य (esoteric) हो जाना अनिवार्य है, किन्तु वह उसकी शक्ति नहीं, विवशता है ; धर्म नहीं, आपद्धर्म है।

(३)

आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति यौन वर्जनाओं का पुंज है। उसके जीवन का एक पक्ष है उसकी सामाजिक रूढ़ि की लम्बी परम्परा, जो परिस्थितियों के परिवर्त्तन के साथ-साथ विकसित नहीं हुई ; और दूसरा पक्ष है स्थिति-परिवर्तन की असाधारण तीव्र-गति जिसके साथ रूढ़ि का विकास असम्भव है। इस विपर्यास का परिणाम है कि आज के मानव का मन यौन परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और वे कल्पनाएं सब दमित और कुण्ठित हैं। उसकी सौन्दर्य-चेतना भी इससे आक्रान्त है। उसके उपमान सब यौन प्रतीकार्थ रखते हैं*। प्रतीक द्वारा कभी-कभी वास्तविक अभिप्राय अनावृत हो जाता है—तब वह उस स्पष्ट इंगित से घबरा कर भागता है, जैसे बिजली के प्रकाश मे व्यक्ति चौंक जाय। (डी० एच० लारेंस की एक कविता मे प्रेम-प्रसग मे एकाएक बिजली चमकने पर पुरुष अपना प्रेमालाप छोड़ कर छिटक कर अलग हो जाता है, क्योंकि 'The lightning has made it too plain'—बिजली ने उस व्यापार को उघड़ा कर दिया है!) और इस आन्तरिक सघर्ष के ऊपर जैसे काठी कस कर एक बाह्य-सघर्ष भी बैठा है, जो व्यक्ति और व्यक्ति का नही, व्यक्ति-समूह और व्यक्ति-समूह का, वर्गों और श्रेणियों का सघर्ष है। व्यक्तिगत चेतना के ऊपर एक वर्गगत चेतना भी लदी हुई है और उचितानुचित की भावनाओं का अनुशासन करती है, जिससे एक-दूसरे प्रकार की वर्जनाओं का पुंज खड़ा होता है, और उनके साथ ही उनके प्रति विद्रोह का स्वर जागता है।‡

कवि के लिए इस परिस्थिति में और-भी कठिनाइयाँ हैं। एक मार्ग यौन स्वप्न-सृष्टि का—दिवास्वप्नों का—है, उसे वह नहीं अपनाना चाहता। फिर वह क्या करे ? यथार्थ-दर्शन केवल कुण्ठा उत्पन्न करता है। वास्तव की वीभत्सता की कसौटी पर चाँदनी खोटी दीखती है,† कवि अपनी काव्य-परम्परा का मूल्यांकन करता है और चारण-काल से लेकर छायावाद तक की कविता को तात्कालिक परिस्थिति अथवा जीवन-प्रणाली पर घटित करके समझ लेता है, किन्तु फिर भी आज के जीवन के दबाव की अभिव्यञ्जना का मार्ग उसे नहीं दीखता। क्योंकि आज उसकी अनुभूतियाँ तीव्रतर हैं तो वर्जनाएँ (inhibitions) भी कठोरतर हैं ; परिणाम है 'व्यञ्जना भीरु नेत्रों का विस्फार', जो 'अश्लील' इसलिए है कि भावनाओं और वर्जनाओं के सघर्ष को सहसा सामने ले आता है।

और प्रेम ? एक थका-माँदा पक्षी, जो साँझ घिरती देख कर आशका से भी भरता है और साहस सचित करके लड़ता भी जा रहा है। निराशा और कुण्ठा से धैर्य पूर्वक लड़ता हुआ, किन्तु विश्वास की निष्कम्प अवस्था से कुछ नीचे—आज के प्रेम का सर्वोत्तम सम्भव रूप यही है। अन्धकार और आलोक का अनुक्रम, धृति और गति का सामजस्य, वासना और विवेक का सयोग, उदासी और खण्डन के बीच मे विश्वास का मुक्त स्वर जो सबल कई बार हो उठता है पर निष्कम्प कभी नहीं हो पाता।‡

* नीचे, 'सावन-मेघ' शीर्षक कविता।

* नीचे, 'जनाह्वान', 'वर्ग-भावना'।

† नीचे, 'शिशिर की राकानिशा'।

‡ नीचे, 'रात होते—प्रात होते', 'बाहु मेरे घेर कर तुमको रुके रहे', 'चार का गजर', 'आज मैं पहचानता हूँ राशियाँ', 'चरण पर धर चरण', 'चेहरा उदास', 'मुक्ति'।

(४)

अब केवल एक बात और कहनी है। वह यह कि मेरी बात आप अनुग्रह पूर्वक सुन तो लीजिये, पर मानिये मत—मानिये उसी को, विश्वास उसीका कीजिए, जो आपको मेरी कविता में मिले। बाकी सब तो आत्म-विडम्बना है—अपनी कविता की स्वय की हुई 'पैरोडी'।

—'अज्ञेय'

---

१ जनाह्वान

ठहर, ठहर, आततायी ! जरा सुन ले
मेरे क्रुद्ध वीर्य की पुकार आज सुन जा
रागातीत, दर्पस्फीत, अतल, अतुलनीय,
मेरी अवहेलना की टक्कर सहार ले—
क्षण भर स्थिर खड़ा रह ले—
मेरे दृढ़ पौरुष की एक चोट सह ले !
नूतन प्रचण्डतर स्वर से
आततायी आज तुझको पुकार रहा मैं—
रणोद्यत दुर्निवार ललकार रहा मैं—
कौन हूँ मैं ?
तेरा दीनदुखी पद-दलित पराजित
आज जो कि क्रुद्ध सर्प-से अतीत को जगा
'मैं' से 'हम' हो गया।

'मैं' के झूठे अहकार ने हराया मुझे
तेरे आगे विवश झुकाया मुझे,
किन्तु आज मेरे इन बाहुओं में शक्ति है,
मेरे इस पागल हृदय में भरी भक्ति है,—
आज क्योंकि मेरे पीछे जाग्रत अतीत है,
और मेरे आगे है अनन्त
आदिहीन शेषहीन पथ वह
जिस पर
एक दृढ़ पैर का ही स्थान है
और वह दृढ़ पैर मेरा है,
गुरु, स्थिर, स्थाणु-सा गड़ा हुआ
तेरी प्राण-पीठिका पै लिंग-सा खड़ा हुआ !

और हाँ, भविष्य के अ-जनमे प्रवाह से
भावी नवयुग के ज्वलन्त प्राणदाह से
प्रबल प्रतापवान्, निविड़ प्रदाहमान
छोड़ता स्फुलिंग पै स्फुलिंग
आस-पास बाधामुक्त हो बिखेरता—

क्षार, क्षार—धूल, धूल—
और वह धूल तेरे गौरव की धूल है
मेरा पथ तेरे ध्वस्त-गौरव का पथ है
और तेरे भूत काले पापों में प्रवहमान
लाल आग
मेरे भावी गौरव का रथ है !

२ सावन-मेघ

[१]

घिर गया नभ, उमड़ आए मेघ काले
भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका-सा
विशद, श्वासाहत, चिरातुर
छा गया इन्द्र का नील वक्ष—
वज्र-सा, यदि तड़ित् से झुलसा हुआ-सा।

आह, मेरा श्वास है उत्तप्त—
धमनियों मे उमड़ आई है लहू की धार—
प्यार है अभिशप्त—
तुम कहाँ हो नारि ?

[२]

मेघ-आकुल गगन को मैं देखता था
बन विरह के लक्षणों की मूर्त्ति—
सूक्ति की फिर नायिकाएँ
शास्त्र-सगत प्रेम-क्रीड़ाएँ,
घुमड़ती थीं बादलों मे
आर्द्र, कच्ची वासना के धूम-सी।

जब कि सहसा तड़ित् के आघात से घिर कर
फूट निकला स्वर्ग का आलोक,
बाध्य देखा—

स्नेह से आलिप्त
बीज के भवितव्य से उत्फुल्ल
बद्ध
वासना के पंक-सी फैली हुई थी
धारयित्री सत्य-सी निर्लज्ज, नंगी
औ' समर्पित ।

अपलक-द्युति, अनथकगति, बद्धनियति
जो पार किये जा रहा नील मरु-प्रागण नभ का ।
मैं हूँ ये सब, ये सब मुझ में जीवित—
मेरे कारण अवगत—मेरे चेतन मे अस्तित्व-प्राप्त !
उष'काल
उषःकाल की रहस्यमय
भव्य शान्ति !

३ उषःकाल की भव्य शान्ति

निविड़ाऽन्धकार
को मूर्त रूप दे देने वाली
एक अकिंचन निष्प्रभ अनाहूत
अज्ञात द्युतिकिरण—
आसन्न-पतन, बिन जमी ओस की अन्तिम
ईषत्करुण, स्निग्ध कातर शीतलता
अस्पृष्ट किन्तु अनुभूत—
दूर किसी मीनार-क्रोड़ से मुल्ला का
एकरूप पर अनेक भावोद्दीपक
गभीर आऽह्वाऽन—
'अस्सला तु खैरुम्मिनिन्नाऽ'—
निकट गली मे
किसी निष्करुण जन से बिन-कारण पदाक्रान्त
पिल्ले की करुण रिरियाहट—
पार गली के छप्पर-तल में
शिशु का तुनक-तुनक कर रोना, मातृ-वक्ष को आतुर,
ऊपर
व्याप्त ओर-छोर-मुक्त नीलाकाश—
दो अनथक, अपलक-द्युति ग्रह
रात रात मे नभ का आधा व्यास पार कर
फिर भी नियति-बद्ध अग्रसर ।
उष.काल :
अनायास उठ गया चेतना से निद्रा का आँचल—
मिला न पर पार्थक्य, पड़ा मैं स्तब्ध अचचल ;
मैं ही हूँ वह पदाक्रान्त रिरियाता कुत्ता—
मैं ही वह मीनार-शिखर का प्रार्थी मुल्ला—
मैं वह छप्पर-तल का अह-लीन शिशु-भिक्षुक—
और हाँ, निश्चय,
मैं वह तारक-युग्म,

४ शिशिर की राका-निशा

वचना है चाँदनी सित
झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार—
शिशिर की राका-निशा की शान्ति है निस्सार !
दूर वह सब शान्ति, वह सित भव्यता, वह
शून्य के अवलेप का प्रस्तार—
इधर—केवल झलमलाते
चेत-हर, दुर्धर कुहासे की हलाहल-स्निग्ध मुट्ठी मे
सिहरते-से, पगु, टुडे
नग्न, बुच्चे दईमारे पेड़ !

पास फिर दो भग्न गुम्बद —
निविड़ता को भेदती चीत्कार-सी मीनार—
बाँस की टूटो हुई टट्टी, लटकती
एक खम्भे से फटी-सी ओढनी की चिन्दियाँ दो-चार !

निकट-तर—धँसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टाँगों पर खड़ा नत-ग्रीव
धैर्यधन गदहा ।

निकटतम —
रीढ़ वकिम किए, निश्चल किन्तु लोलुप
खड़ा वन्य बिलार—
पीछे, गोयठों के गन्धमय अम्बार !

गा गया सब राजकवि, फिर राजपथ पर खो गया ।
गा गया चारण, शरण फिर शूर की आकर, निरापद सो गया ।
गा गया फिर भक्त, ढुलमुल चाटुता से वासनाको झलमला कर
गा गया अन्तिम प्रहर मे वेदना-प्रिय अलस, तन्द्रिल,
कल्पना का लाड़ला
कवि निपट भावावेश से निर्वेद !

किन्तु अब—निःस्तब्ध—सस्कृत
लोचनो का भाव-सकुल, व्यञ्जना का भीरु
फटा-सा अश्लील-सा विस्फार—
झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार—
वचना है चांदनी सित
शिशिर की राका-निशा की शान्ति है निस्सार !

५ रात होते—प्रात होते

प्रात होते—
सबल पखों की अकेली एक मीठी चोट से
अनुगता मुझको बना कर बावली को—
जान कर मैं अनुगता हूँ—
उस विदा के विरह के विच्छेद के तीखे निमिष मे भी
युता हूँ—
उड़ गया वह बावला
पछी सुनहला
कर प्रहर्षित देह को रोमावली को ।
प्रात होते ।

वही जो
थके पखों को समेटे—
आसरे की माँग पर विश्वास की चादर लपेटे—
चचुकी उन्मुख विकलता के सहारे
नम रही ग्रीवा उठाए—
सिहरता-सा, काँपता-सा,
नीड़ की—नीड़स्थ सब कुछ की प्रतीक्षा भाँपता-सा,
निकट अपनो के—निकट भवितव्य की
अपनी प्रतिज्ञा के—
निकटतम इस वि-बुत्र सपनों की सखी के
आ गया था
आ गया था
रात होते !

६ जैसे तुझे स्वीकार हो

जैसे तुझे स्वीकार हो !
डोलती डाली, प्रकम्पित पात, पाटल-स्तम्भ विलुलित
खिल गया है सुमन मृदु-दल, बिखरते किजल्क प्रमुदित
स्नात मधु से अग रजित-राग केशर-अजली से
स्तब्ध सौरभ है निवेदित,
मलय-मारुत, और अब जैसे तुझे स्वीकार हो ।

पख कम्पन-शिथिल, ग्रीवा उठी, डगमग पैर,
तन्मय दीठ अपलक—
कौन ऋतु है, राशि क्या, है कौन-सा नक्षत्र, गत-शका,
द्विधा-हत,
बिन्दु अथवा वज्र हो—
चचु खोले आत्मविस्मृत हो गया है यती चातक—
स्वाति, नीरद, नील-द्युति, जैसे तुझे स्वीकार हो ।

अभ्रलख भू-चाप-सा, नीचे प्रतीक्षा मे स्तिमित नि शब्द
धरा पाँवर-सी बिछी है, वक्ष उद्वेलित हुआ है स्तब्ध,
चरण की ही चाप-किंवा छाप तेरे तरल चुम्बन की—
महाबल हे इन्द्र, अब जैसे तुझे स्वीकार हो ।

मैं खड़ा खोले हृदयके सभी ममता द्वार,
नमित मेरा भाल, आत्मा नमित-तर, है नमित-तम
मम भावना ससार,
फूट निकला है न जाने कौन हृतल बेधता-सा
निवेदन का अतुल पारावार,
अभय-कर हो, वरद-कर हो, तिरस्कारी वर्जना, हो प्यार
तुझे, प्राणाधार, जैसे हो तुझे स्वीकार—
सखे, चिन्मय देवता, जैसे तुझे स्वीकार हो !

७ जयतु हे कण्टक चिरन्तन !*

जय, सदा जय हो !
प्रबल झञ्झा के थपेड़ों से पिटे हैं फूल—
भूमिपर, नभपर, पवन के चक्षुओं मे भी भरी है धूल,
काव्य के झखाड़ में बाकी बचे बस
निविड़ छायावाद के निष्प्राण रूखे शूल—
जयतु हे कण्टक चिरन्तन, जय सदा जय हो ।

* 'जैसे तुझे स्वीकार हो' शीर्षक कविता दिल्ली की एक पत्रिका में प्रकाशित हुई, तो एक कृपालु पत्रकार ने एक स्थानीय पत्र मे उसका अर्थ करने के

नेत्र विस्फारित, अचम्भित दृष्टि, हृद्गति स्तब्ध
सहमी बुद्धि भौचक,
आह यह निर्लज्ज पाठक है नहीं अभिभूत अबतक,
आस में बैठा हुआ है—
पैर चुभती ठीकरी भी यह कभी होजाय रोचक—
किन्तु कविते ! कुलिश-सी कटु क्लिष्ट,
लौहके हे चणक, जय, तेरी सदा जय हो ।

बिछ गए हैं रबड़के ये छन्द ज्यों शैतान की हो आंत,
है प्रतीक्षा के पुलक में कवि सभी अपने निपोरे दांत
तालियां हों, गालियां हो, चप्पलों की मार, घूँसे-लात,
महाबल हे काव्य-रजनी के निशाचर, जय सदा जय हो ।

मैं खड़ा खोले सभी कटिबन्ध पिंगल के,
मुक्त मेरे छन्द, भाषा मुक्ततर, हैं मुक्ततम मम
भाव पागल के ।
ज्ञेय हो, दुर्ज्ञेय हो अज्ञेय निश्चय हो,
अर्थके अभिलाषियों से सतत निर्भय हो,
असुर दुर्दम, दैत्य-कवि, तेरी सदा जय हो !
जय, पुनः जय सदा जय जय,
जय, सदा जय हो !

लिए पुरस्कार घोषित किया। शर्त यह थी कि 'अर्थ'ही किया जाय, 'व्याख्या' न की जाय। मेरा अनुमान था कि इस जाल में कुछ लोग अवश्य फँसेंगे, और हुआ भी ऐसा ही—कुछ उत्साही व्यक्तियों ने (मेरा पक्ष लेने के लिए मैं उनकी सदिच्छा का कायल तो हूँ पर उनके सद्विवेक का नहीं !) अर्थ करके भेजा, और उत्तर पाया कि यह तो 'अर्थ' नहीं, 'व्याख्या' है। एक बार अचानक इस आशय का एक कार्ड एक मित्र के घर देखकर (कार्ड और किसी के नाम था किन्तु डाकिये की भूलसे वहाँ चला आया था) मैंने सोचा कि कविता का अर्थ स्वयं करना चाहिए। अत. छद्मनाम से सम्पादक के नाम इस आशयका पत्र लिखकर कि "इन महाकवि की कविता इतनी गूढ होती है कि साधारण गद्य मे उसकी व्याख्या ही हो सकती है, अर्थ नहीं'; अत. मैं उसका अर्थ पद्य में करके भेज रहा हूँ , आशा है आप इस सर्वथा सम्पूर्ण अर्थ को प्रकाशित कर देंगे।" मैंने यह पैरोडी भेज दी जो पत्र में सम्पादकीय नोट के के साथ छपी भी।

पत्रकार सज्जनको पुरस्कार देना नहीं था, अतः वह तो मुझे नहीं मिला, पर वैसे मैंने समझा कि प्रकाशन ही काफी पुरस्कार है , क्योंकि वे अभीतक नहीं जानते कि 'लिखे ईसा पढे मूसा' की इस कहानी में ईसा हो मूसा है। आशा है वे मुझे क्षमा कर देंगे क्यों कि मेरा आचरण शास्त्र-सम्मत है, 'पत्रकारे पत्र-कारत्व'— इति हितोपदेशः

८ चार का गजर

चार का गजर कहीं खड़का .
रात में उचट गई नींद मेरी सहसा —
छोटे-छोटे, बिखरे-से, शुभ्र अभ्र-खण्डों बीच द्रुतपद
भागा जा रहा है चाँद :
जगा हूँ मैं एक स्वप्न देखता ·

जाने कौन स्थान है, मैं खड़ा एक मच पर
एक हाथ ऊँचा किए। भाषण के बीचमें
रुककर नीचे देखता हूँ, जुटी भीड़ को
और फिर निज उठे कर को
जिसमें मैं एक चित्र थामे हूँ ;
और फिर मुग्ध-नेत्र चित्र को ही देखता—
निर्निमेष लोचन-युगल जिसमें कि युवा कविके
देखे जा रहे हैं, एक छायामय
किन्तु दीप्तिमान नारी मुख को !
आकृति नहीं है स्पष्ट, किन्तु मानों फलक को भेदती-सी
दृष्टि उन अप्सरा की आँखों की
बैठी जा रही है कवि-युवक के उर में ।

मेरी भावधारा फिर वेष्टित हो शब्द से
बह चलती है जन-सकुल की ओर (मानो निम्नगा
होके नभ-गगा बनी धौत-पाप भागीरथ-तारिणी)
कहता हूँ, "देखो यहाँ चित्रण किया है चित्रकारने
एकनिष्ठ, ध्येय-रत तप-शील साधना का ;
दुर्निवार चला जा रहा है कवि युवा निज पथ पर
उर धारे पुजीकृत कल्पनाकी स्वप्नमूर्त प्रतिमा ।
एक सीमा होती है उलाघ कर जिसको

बनता विसर्जन है बिम्ब उपलब्धि का :
देखो, कैसे तन्मय हुआ है वह आत्मसात् !"

नीचे कहीं, सकुल के बीच से
आया एक स्वर, तीखा व्यग्य-युक्त, मुझे ललकारता—
"तेरे पास भी तो प्रतिकृति है
छायारूप तेरे निज मोहकी यवनिका !'
मानो मेरा रोम-रोम पुलका प्रहर्ष से,
मैंने एकाएक चीन्ह लिया उस फलक को बेधती-सी
छायाकृति बीच जड़ी अपलक आँखों को—
तेरी थी वे आँखें, आर्द्र, दीप्तियुक्त, मानो किसी दूरतम
तारे की चमक हो !
और फिर गूँज गया मेरे प्राण-गह्वर के सूने मे
वह प्रश्न—'तेरे पास भी तो बस चित्र है—
प्रतिकृति, छायामय—'

खुल गया चेतना का द्वार तभी
उठ गई मेरे मोह-स्वप्न की यवनिका—
मिंची मेरी मुट्ठियाँ थीं
उनकी पकड़ किन्तु बांधे एक शून्यता के
श्वास को ·

छोटे-छोटे, बिखरे से, शुभ्र बादलों को पार करता—
मानो कोई तप-क्षीण कापालिक
साध्य-साधना की बल बुझी, झरी,
बची-खुची राख पर धीमे पैर रखता—
नीरव, चपलतर गति से
चाँद भागा जा रहा है
द्रुतपद—
जागा हूँ मैं स्वप्न से कि
चार का गजर कहीं खड़का !'

९ वर्ग-भावना—सटीक

अवतसों का वर्ग हमारा
खड्गधार भी न्यायकार भी ।
हमने क्षुद्र तुच्छतम जनसे
अनायास ही बाँट लिया
श्रम-भार भी सुख-भार भी ।
बल्कि बढ गए हैं आगे भी
हम निश्चय ही हैं उदार भी ।

....

टीका (यद्यपि भाष्यकार है दुर्मुख) ·
हमलोगो का एकमात्र श्रम है—सुरति-श्रम,
उस अन्त्यज का एक मात्र सुख है—मैथुन सुख !

१० भादों की उमस

सहम कर थम-से गए हैं बोल बुलबुल के
मुग्ध, अनभिप रह गए हैं नेत्र पाटल के,
उमस मे बेकल, अचल हैं पात चल दल के—
नियति मानो बँध गई है व्यास मे पल के ।

लास्य कर कौंधी तड़ित् उस पार बादल के,
वेदना के दो उपेक्षित वारिकण ढलके,
प्रश्न जागा निम्नतर स्तर बेध हृत्तल के—
छा गए कैसे अजाने, सहपथिक कल के ?

११ 'चेहरा उदास'

रात के रहस्यमय, स्पन्दित तिमिर को
भेदती कटार-सी
कौंध गई बौखलाए मोर की पुकार—
वायु को कँपाती हुई,
छोटे-छोटे बिन जमे ओस बिन्दुओं को झकझोरती,
दुस्सह व्यथा-सी !
नभपार !

मेरे स्मृति-गगन मे सहसा
अन्धकार चीर कर आया एक चेहरा उदास ।
आँखो की पुतलियों मे सोई थी बिजुलियाँ—
किन्तु वेदना का आर्द्र घन छाया आस-पास !
एक क्षण । केकी की पुकार से फटा हुआ
रात का रहस्यगर्भ स्पन्दित तिमिर फिर
व्रण निज ढक कर फैल कर मिल गया—
जैसे कोई निराकार चेतना

जीवन की अल्पतम
अनुभव-लहर की चोट सोख लेती है।
और माना चोट खाए स्थल को
देने को विशेष कोई स्निग्ध-स्पर्श सान्त्वना—
रात के कुहासे मे से एक छोटा तारा फूट निकला।

किन्तु मेरी स्मृति के
ओर-छोर-मुक्त, गतियुक्त-से गगन में
थम गया, जम गया वह स्थिर नेत्रयुक्त चेहरा उदास—
आँखों में सुलाए हुए तड़पती बिजुली—
और आर्द्र वेदना के घन छाये आस-पास!

मेरी चेतना उसीके चिन्तन से प्लावित है युगयुग—
चोट नहीं, वही मेरी जीवनानुभूति है।
खुला ही रहे ये मेरा वातायन वेदना का,
देखता रहूँ मैं सदा अपलक
वह छवि, दीप्तियुक्त—छायामय—
मिटो मत मेरे स्मृति-पटल के तल से—
हटो मत मेरी प्यासी दृष्टि के क्षितिज से—
मेरे एकमात्र सगी चेहरे उदास—
मुझे चाह नहीं अन्य स्निग्ध-स्पर्श सान्त्वना की
तुम्हीं मेरा जीवन-कुहासा भेद उगा हुआ तारा हो!

१२ चरण पर धर चरण

चरण पर धर
सिहरते-से चरण
आज भी मैं इस सुनहले मार्ग पर
पकड़ लेने को पदों से
मृदुल तेरे पद-युगल के अरुण-तल की
छाप वह मृदुतर
जिसे क्षणभर पूर्व ही निज
लोचनों की उछटती-सी बेकली से
मैं चुका हूँ चूम वारम्बार—
कर रहा हूँ, प्रिये, तेरा मैं अनुकरण
मुग्ध, तन्मय—
चरण पर धर
सिहरते-से चरण।

पार्श्व मेरा—
किन्तु इससे क्या कि मेरे साथ चलता कौन है—
जब कि वह है साथ मेरी यन्त्र-चालित देह के—
और मैं—मेरा परमतम तत्व वलयित
साथ तेरे प्राण के—
जब कि आत्मा यह अनाहत और अक्षत
चरण-तल की छाप के उस कनक-शतदल
कमल से बिछुड़ी अकेली दोल पँखुड़ी में चमकती
लोल जल की बूँद-सा पर-ज्योति-गुम्फित
तद्गत और अतिश. मौन है!

१३ मुक्ति

निमिष भर को सो गया था प्यार का प्रहरी—
उस निमिष में कट गई है कठिन तप की शिंजिनी दुहरी—
सत्य का वह सनसनाता तीर जा पहुँचा हृदय के पार—
खोल दो अब वचना के दुर्ग के सब रुद्ध सिंह-द्वार!

एक अन्तिम निमिष भर के ही लिए कट जाय मायापाश—
एक क्षण भर वक्ष के सूने कुहर को झनझना कर
चला जावे झुलस कर भी तप्त अन्तिम मुक्ति का प्रश्वास—
कब तलक यह आत्म-सचय की कृपणता! यह
घुमड़ता त्रास!
दान कर दो खुले कर से, खुले उर से होम कर दो
स्वय को समिधा बना कर—
शून्य होगा, तिमिरमय भी, तुम यही जानो कि
अनुक्षण मुक्त है आकाश!

१४ आज मैं पहचानता हूँ—

आज मैं पहचानता हूँ राशियाँ, नक्षत्र,
ग्रहों की गति, कुग्रहो के कुछ उपद्रव भी,
मेखला आकाश की ,
जानता हूँ मापना दिनमान ,
समझता हूँ अयन-विषुवत् ,
सूर्य के धब्बे, कलाएँ चन्द्रमा की
गति अखिल इस सौर-मण्डल के विवर्त्तन की—

और इन सब से परे, मैं सोचता हूँ
जरा कुछ कुछ झाँपने-सा भी लगा हूँ
इस गहन ब्रह्माण्ड के अन्त स्थ विधि का अर्थ—

अर्थ !—रे कितनी निरर्थक—वचना की मोह स्वर्णिम
यह यवनिका—
यह चटक, तारो सजा फूहड़ निलज आकाश—
अर्थ कितना उभर आता था अचानक
अल्पतम भी तारिका की चमक को जब
देखते ही मैं तुरत, नि शब्द तुलना में तुम्हारे
कुछ उनींदे लोचनों की युगलजोड़ी कर लिया करता
कभी था याद !

१५ बाहु मेरे रुके रहे

बाहु मेरे घेर कर तुमको रुके रहे ।
रात की गु जरित स्पन्दनहीनता मे
निभृत की उत्कट प्रतीक्षा में
नहीं माँगा भी तुम्हारे प्यार का सकेत
किसी सूनी वाटिका की दूब से आवृत
विस्मृता-सी, स्मरण की नीरव उसासों के सिरिस-से
परस से भी सिहर-सकुचाती
वीथिका के उभय-तट मालच से अवलम्बिता,
दो लताओ के प्रलम्बित अकुरो-से
प्राण दोनों के
व्यर्थ करके शब्द को, शब्दार्थ को, स्वर को,
भूल करके प्रस्फुटन, विकसन, फलागम—
अहेतुक आश्वासना से
बस, झुके रहे ।
बाहु मेरे घेर कर तुमको रुके रहे ।

नही मुझ मे तीव्र कोई अह की अभिव्यजना जागी ।
नही चाहे प्राण तुम प्रत्येक स्पन्दन की
बनो बेबस फेन-सी उच्छ्वसित समभागी—
चेतना की दो प्रवाहित पृथक् धारों-सी
जो कि सगम के अनन्तर भी
रग अपने पृथक रखती हैं,
और जिनके
घुले, उलझे, परस्पर-वलयित,
द्रवित देहों में
शान्ति मे गति-से, परम कैवल्य में सवेदना-से,
भँवर हैं उद्भ्रान्त मँडलाते—
(यद्यपि आगे फिर बृहत्तर
ऐक्य मे दोनो पृथक् अस्तित्व होते लीन अनजाने)

हम रहे, झर चली बूँदें काल निर्झर की
उदधि की झझा-प्रताड़ित द्रुत लहर हमने नहीं माँगी,
वासना से, याचना से हम परे थे—
सहज अनुरागी ।
नही मुझ मे अह की अभिव्यजना जागी ।

नहीं उमड़ा घुमड़ता सक्षुब्ध उर मे
वासना का बुदबुदाता ज्वार ।
नहीं दूभर हुआ हमको स्वय अपना दान—
मिलन के अतिरेक का प्रस्वेद-श्लथ सभार !
वक्ष थे सलग्न, पर अस्तित्वके उस इन्द्रधनुके छोर,
नहीं करना चाहते थे
निरे मानव जीव की शत-फण बुभुक्षाके
कुलाहल का आस्फालन ,
उस कुहर मे नही गूँजी
अलग हृदयो की अनुक्षण तीव्रतर होती हुई धड़कन—
आत्मलय के रुद्र-ताण्डव का प्रमाथी
तप्त आवाहन,
क्योंकि दोनों चल रहे थे एकही समतालकी गतिपर ।
—चिर-अनातुर, चिर-अचचल, महद्गति, बेरोक,
कालके युगचरणकी शाश्वत-प्रवाही चाप सहसा
रणरणित कर गई दुहरी
पृथक्ता द्वारा घनावृत ऐक्य को ।
देव-दम्पति के परस्पर पार्श्ववर्त्ती मन्दिरों के
शिखरकी ज्यों
युगल-कलशी को कँपाता गूँज जावे
अगुरु-धूमिल आरतीका नाद !
—एवमेव
शमन में जीवन जगा, धृतिको चिरन्तन गति बना कर
स्तब्ध-स्वर
बोला हमारा प्यार—
नहीं उमड़ा वासना का ज्वार ।

१६ किसने देखा चाँद

किसने देखा चाँद—
किसने, जिसे न दीखा उसमें क्रमश विकसित
एक मात्र वह स्मित-मुख, जो है
अलग अलग प्रत्येक के लिए,
किन्तु अन्तत. है अभिन्न—
है अभिन्न, निष्कम्प, अनिर्वच, अनभिवद्य , है युगातीत ,
एकाकी—
एकमात्र ?

१७ बदली के बाद

तीन दिन बदली के गए, आज सहसा
खुल-सी गई हैं दो पहाड़ियों की श्रेणियाँ
और बीचके अबाध अन्तराल मे
शुभ्र, धौत—
मानो स्फुट अधरों के बीचसे प्रकृतिके
बिखर गया हो कल हास्य,
एक क्रीड़ा-लोल, अमित लहर-सा—

नांघ कर मानस का शून्यतम
नि सृत हुआ है द्युत
तेरे प्रति मेरे कृत बोध का प्रकाश—
चेतना की मेखला-सी
जीवनानुभूति की पहाड़ियों के बीच मेरी
विनत कृतज्ञता
फैल गई खुले आकाश-सी ।

अनुक्रमणिका

नेमिचंद्र

पृष्ठ

माचवे, प्रभाकर

पृष्ठ